जैन विद्या

भाग-4

निर्देशन
आचार्य महाश्रमण

जैन विश्व भारती

आदर्श साहित्य विभाग
जैन विश्व भारती
लाडनूं-341306
जिला : डीडवाना-कुचामन (राजस्थान) (भारत)
फोन नं. : 91-8742004849
ई-मेल : books@jvbharati.org
द्वारा प्रकाशित

भाषा – हिन्दी

कॉपीराइट – जैन विश्व भारती, लाडनूं

प्रथम संस्करण – अप्रैल 2026

इस प्रकाशन का कोई भी भाग प्रकाशक की पूर्व अनुमति के बिना किसी भी रूप में इलेक्ट्रॉनिक, यांत्रिक, फोटो कॉपी, रिकॉर्डिंग या अन्य किसी भी माध्यम से न तो पुनर्मुद्रित किया जा सकता है न संग्रहित किया जा सकता है और न प्रसारित किया जा सकता है।

मुद्रित एवं बाइंडिंग – श्री वर्धमान प्रिंट एण्ड पैक, गाजियाबाद (दिल्ली एन.सी.आर)

अधिकतम खुदरा मूल्य – 200/- (दो सौ रुपये मात्र)

जैन विद्या भाग - 4
निर्देशन : आचार्य महाश्रमण

प्रकाशकीय

जैन विद्या पाठ्यक्रम का निर्माण इस उद्देश्य से किया गया है कि यह मानव जीवन के समग्र विकास में सहायक बने और जैन संस्कृति के संरक्षण एवं संवर्धन में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाए। जैन विद्या न केवल जीवन निर्माण का आधार है, बल्कि यह व्यक्ति को नैतिकता, अनुशासन, आत्मसंयम और आध्यात्मिक उन्नति की दिशा में प्रेरित करती है।

इस पाठ्यक्रम का विशेष सौभाग्य है कि इसका निर्माण परम पूज्य आचार्य श्री महाश्रमण के प्रेरणाप्रद निर्देशन में संपन्न हुआ है। उनके मार्गदर्शन ने इस पाठ्यक्रम को गहन आध्यात्मिकता, व्यवहारिकता और मूल्यपरक दृष्टि प्रदान की है, जिससे यह और अधिक प्रभावी एवं उपयोगी बन सका है।

इस पाठ्यक्रम के माध्यम से जैन धर्म के इतिहास, संस्कृति तथा आध्यात्मिक परंपराओं का सुव्यवस्थित और सरल परिचय प्राप्त होता है। इसमें तत्व दर्शन, मंत्र, स्तुति, जैन सिद्धांतों के मौलिक आधार तथा अन्य अनेक विषयों का सारगर्भित विवेचन किया गया है। साथ ही, जीवन शैली पर आधारित प्रेरणादायक कथाओं को भी सम्मिलित किया गया है, जो विशेष रूप से बालकों में संस्कार निर्माण तथा चरित्र विकास के लिए अत्यंत उपयोगी हैं।

यह पाठ्यक्रम इस प्रकार तैयार किया गया है कि बालक, युवा तथा वृद्ध-सभी आयु वर्ग के लोग इसमें सहजता से भाग ले सकें और अपने जीवन को अधिक सार्थक एवं उद्देश्यपूर्ण बना सकें। हमें पूर्ण विश्वास है कि यह पाठ्यक्रम जैन विद्या के प्रसार के साथ-साथ समाज में नैतिक मूल्यों के जागरण का भी प्रभावी माध्यम सिद्ध होगा।

टी. अमरचन्द लुंकड़
अध्यक्ष
जैन विश्व भारती

अनुक्रम

1.	सृष्टि के विषय में जैन दृष्टिकोण	1
2.	षड्जीवनिकाय	9
3.	ईश्वरवाद	13
4.	आत्मवाद	18
5.	पुनर्जन्मवाद	21
6.	कर्मवाद	24
7.	अनेकान्तवाद	30
8.	तीर्थंकर पार्श्वनाथ	34
9.	आचार्य मघराजजी	40
10.	आचार्य माणकलालजी	42
11.	आचार्य डालचन्दजी	44
12.	आचार्य कालूरामजी	46
13.	श्रावक-श्राविका जीवन-प्रसंग	48
14.	अर्हत्-वंदना	57

पाठ-1 सृष्टि के विषय में जैन दृष्टिकोण

*** हम जिस जगत में जी रहे हैं, वह क्या है? वह कहां है? वह कब से है? वह एक रूपी है या बहुरूपी? वह किसकी रचना है? ये प्रश्न अनादिकाल से मनुष्य के मन को आलोड़ित करते रहे हैं। मनुष्य इन्हीं प्रश्नों का उत्तर पाने के लिए दर्शन की वेदी तक पहुंचा है।**

दर्शन देखने की पद्धति है। ध्यान सिद्ध मनुष्य विश्व को अंतर्दृष्टि से देखता है और बौद्धिक मनुष्य उसे तार्किक दृष्टि से देखता है।

* भगवान महावीर अंतर्दृष्टा थे। उनके उत्तरवर्ती आचार्य तार्किक प्रतिभा के धनी थे। आज का जैन दर्शन उन दोनों के निरूपण का प्रतिफलन है।

* जैन दर्शन ने इन शाश्वत प्रश्नों का उत्तर दिया है–

1. यह जगत चेतन (जीव) और अचेतन (अजीव) द्रव्यों का समवाय है।
2. यह अनंत आकाश का मध्यवर्ती आकाश खंड है। समग्र आकाश की तुलना में यह एक बिंदु जैसा है।
3. यह शाश्वत है, इसका आदि-बिंदु नहीं है।
4. यह परिवर्तनशील भी है, प्रतिदिन नए-नए रूपों में बदलता रहता है।
5. यह अनादि है इसलिए किसी भी महाशक्ति की कृति नहीं है।

*** षड् द्रव्य**

जैन दर्शन में विश्व छः द्रव्यों में वर्गीकृत है। ये द्रव्य हैं–

1. धर्मास्तिकाय
2. अधर्मास्तिकाय
3. आकाशास्तिकाय

4. काल

5. पुद्गलास्तिकाय

6. जीवास्तिकाय।

काल के सिवाय शेष पांच द्रव्य अस्तिकाय है। अस्ति का अर्थ है–प्रदेश और काय का अर्थ-समूह। प्रत्येक द्रव्य का सबसे छोटा परमाणु जितना भाग प्रदेश कहलाता है। उसका काय समूह अस्तिकाय है।

द्रव्य

द्रव्य वह है जो उत्पाद (उत्पन्न होना) और व्यय (विनाश होना) होते हुए भी ध्रुव (स्थायित्व होना) रहता है। अर्थात् जो भिन्न-भिन्न अवस्थाओं को प्राप्त हुआ है, हो रहा है और होगा, वह द्रव्य है। उदाहरण के लिए–सोना, दूध और पानी ध्रुव तत्त्व है। सोने के कड़े, कंगन, अंगूठी आदि आभूषण बनाए जाते हैं, यह उत्पाद और विनाश की प्रक्रिया है। दूध से दही, खीर आदि पदार्थ बनते हैं, यह भी उत्पाद और विनाश का क्रम है। इसी प्रकार पानी से बर्फ, भाप आदि पदार्थ बनते हैं। ठीक इसी प्रकार द्रव्य अपने मूल अस्तित्व को कायम रखते हुए भिन्न-भिन्न अवस्थाओं में उत्पन्न भी होता है और नष्ट भी होता है। उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य–इस त्रयात्मक स्थिति का नाम ही द्रव्य है।

1. धर्मास्तिकाय–जीव और पुद्गल की गति में उदासीन सहायक होना।

पानी में मछलियां चलती हैं। पानी मछली को गति में प्रवृत्त नहीं करता, चलने की प्रेरणा नहीं देता, पर मछलियां चलती है तो चलने में उसका पूरा सहयोग रहता है। इसी प्रकार जीव और पुद्गलों की गति में धर्मास्तिकाय का उदासीन सहयोग रहता है। इसके बिना उनकी गति नहीं हो पाती। दूसरे उदाहरण से समझे तो जैसे ट्रेन की गति में पटरी सहायक होती है। पटरी स्वयं गतिशून्य होते हुए भी ट्रेन की गति में सहायक बनती है। ठीक इसी प्रकार धर्मास्तिकाय स्वयं गतिशून्य होते हुए भी जीव और पुद्गलों की गति में उदासीन सहायक बनता है।

2. अधर्मास्तिकाय–जीव और पुद्गल की स्थिति में उदासीन सहायक होना।

थका-हारा पथिक विश्राम करना चाहता है। वृक्ष की छाया देखकर वह ठहर जाता है, विश्राम करता है। इसी प्रकार ठहरने के क्षण में जीव और पुद्गल अधर्मास्तिकाय के उदासीन सहयोग से अवस्थित रहते हैं।

अधर्मास्तिकाय के अभाव में यह संसार चल ही चल रहेगा। इसमें कभी भी जीव और पुद्गल का हलन-चलन बंद नहीं होगा। इनका गमनागमन निरन्तर चालू ही रहेगा। इसलिए धर्मास्तिकाय की तरह अधर्मास्तिकाय की भी अनिवार्यता है।

3. आकाशास्तिकाय–समस्त पदार्थों को अवकाश देना, स्थान देना आकाश का गुण है।

गणधर गौतम ने भगवान महावीर से पूछा–भंते! आकाश तत्त्व से जीव और अजीव को क्या लाभ होता है?

भगवान ने कहा–गौतम! आकाश नहीं होता तो ये जीव कहां होते? ये धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय कहां व्याप्त होते? काल कहां बरतता? पुद्गल का रंग-मंच कहां बनता? यह विश्व निराधार ही होता। इसलिए क्षेत्र व आयतन की दृष्टि से आकाश तत्त्व सब द्रव्यों का भाजन है।

4. काल–काल का गुण है वर्तना, यह जीव और पुद्गल सब पर वर्तता रहता है।

पदार्थों के पर्यायों का परिवर्तन होना, वस्तु के नई से पुरानी होना यह सब काल का ही प्रभाव है। मुहूर्त्त, दिन, रात, पक्ष, मास आदि व्यावहारिक काल है। काल का सबसे छोटा रूप है 'समय'। यह संचित नहीं होता। काल का अतीत समय नष्ट हो जाता है, अनागत (आने वाला) समय अनुत्पन्न रहता है और उसका वर्तमान में एक ही समय होता है। इसलिए उसके परमाणु और प्रदेश होते नहीं। षड्द्रव्यों में पंचास्तिकाय के अतिरिक्त एक मात्र काल ही ऐसा द्रव्य है जो अस्तिकाय नहीं है। यह काल्पनिक द्रव्य है।

5. पुदगलास्तिकाय–जो वर्ण, गंध, रस और स्पर्श युक्त हो तथा जिसमें मिलने और पृथक् होने का स्वभाव विद्यमान हो, वह पुद्गल है।

पुद्गल शब्द जैनों का पारिभाषिक शब्द होने के साथ-साथ अपने आप में बहुत ही अर्थवान शब्द है। इसमें पूरण अर्थात् मिलना और गलन अर्थात् पृथक् होना–इन दोनों ही अर्थों का समावेश है। विज्ञान में इसके लिए मेटर शब्द का प्रयोग हुआ है। किंतु अर्थ की पूर्णता की दृष्टि से पुद्गल शब्द ज्यादा उपयुक्त है।

हम जिसको आंखों से देखते हैं, जीभ से चखते हैं, नाक से सूंघते हैं, त्वचा से छूते हैं, वे सब वस्तुएं पौद्गलिक हैं, यह सारा दृश्य जगत पौद्गलिक है। ऊपर-ऊपर जो नीला-नीला सा आकाश दिख रहा है, वह भी पौद्गलिक है। वास्तव में जो दिख रहा है, वह आकाश नहीं, नीले रंग के परमाणुओं का पुंज है। आकाश सिर्फ ऊपर ही नहीं सर्वत्र व्याप्त है। वह तो अमूर्त है इसलिए दृष्टिगोचर भी नहीं होता। मूर्त द्रव्य है पुद्गल। स्पर्श, रस, गंध, वर्ण वाले द्रव्य ही मूर्तवान होते हैं। पुद्गल के सिवाय अन्य पांचों द्रव्य अमूर्त है, अरूपी है। उनमें स्पर्श, रस, गंध, वर्ण नहीं होते, इसलिए हम आत्मा और धर्मास्तिकाय आदि को भी नहीं देख सकते।

6. जीवास्तिकाय–जो चैतन्य युक्त हो, जिसमें जानने की प्रवृत्ति हो, सुख-दुख का संवेदन हो, वह जीव है।

संख्या की दृष्टि से जीव अनन्त हैं, वे अपने सुख-दुख के कर्ता स्वयं हैं। वे संसारी अवस्था में विभिन्न रूपों में जन्म लेते हैं। भगवान ने जीवों की 84 लाख जीवयोनियां बताई है।

धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, काल, पुद्गलास्तिकाय और जीवास्तिकाय इन षड् द्रव्यों की एक खास विशेषता यह है कि इनके गुण एक दूसरे से नहीं मिलते इसलिए ये स्वतंत्र द्रव्य हैं। जिन द्रव्यों के गुण एक दूसरे से मिले, वह स्वतंत्र द्रव्य नहीं हो सकता। इसलिए द्रव्य छः ही है।

❊ लोक-अलोक

हम जहां रह रहे हैं वह क्या है? उत्तर होता है–लोक है। लोक-अलोक के बिना नहीं होता, कोई भी पक्ष-प्रतिपक्ष के बिना नहीं होता, इसलिए लोक का प्रतिपक्षी अलोक भी है। अलोक से हमारा

कोई सम्बन्ध नहीं है, वहां सिर्फ आकाश ही आकाश है। इसके अतिरिक्त वहां कुछ भी नहीं है। धर्म, अधर्म, आकाश, काल, पुद्गल और जीव ये लोक में ही होते हैं अथवा जहां ये होते हैं, वह लोक है। यहां सहज ही एक जिज्ञासा हो आती है कि लोक और अलोक दोनों में आकाश तत्त्व विद्यमान है, फिर जीव और पुद्गल अलोक में क्यों नहीं जा सकते?

इसका उत्तर दिया गया–जीव और पुद्गल को गति-स्थिति के लिए धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय का सहयोग चाहिए। वह संपूर्ण लोक में तो व्याप्त है परन्तु अलोक में नहीं। इसलिए जीव और पुद्गल गति और स्थिति के अभाव में लोक से बाहर, अलोक में नहीं जा सकते। इस दृष्टि से '**गति-स्थिति निमित्तक द्रव्य**' के साथ-साथ **लोक-अलोक की विभाजक शक्ति** के रूप में भी धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय अपनी नियामकता को और अधिक पुष्ट करते हैं।

लोकस्थिति का वर्णन करते हुए जैन दर्शन में बताया गया–आकाश पर पवन, पवन पर जल और जल पर पृथ्वी है। ये विश्व के आधारभूत अंग है। यह लोक सुप्रतिष्ठक आकार वाला है। सुप्रतिष्ठक आकार का अर्थ है त्रि-शराव-संपुटाकार। अर्थात्

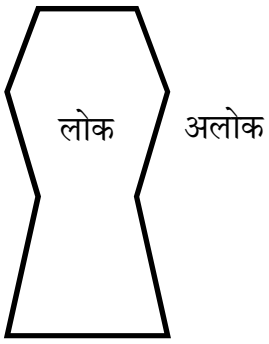

एक शिकोरा (शिराव) उल्टा, उस पर एक शिकोरा सीधा, फिर उस पर एक शिकोरा उल्टा रखने पर जो आकार बनता है, वह त्रिशरावसम्पुटाकार है। लोक के मुख्य तीन भाग है–ऊर्ध्वलोक, अधोलोक और मध्यलोक। इसमें ऊर्ध्वलोक में देवताओं का निवास है, अधोलोक में नारकी जीवों का निवास है और मध्यलोक में मनुष्यों का निवास है। तिर्यंच जीवों का तो सम्पूर्ण लोक में निवास हैं। आत्मा जब कर्म के भार से दबी हुई होती है, तब वह नीचे की ओर जाती है। कर्मभार का दबाव छूटते ही आत्मा अपने स्वाभावानुसार ऊर्ध्वगामी हो, जहां तक लोक की सीमा है, वहां तक पहुंच जाती है। उस स्थान का नाम सिद्धगति है। सिद्ध गति का दूसरा नाम मुक्ति या मोक्ष है। यह स्थान ऊर्ध्वलोक के अंत में है, इसलिए आत्मा इससे आगे अलोकाकाश में नहीं जाती।

❊ मध्यलोक

जैन दर्शन के अनुसार मध्यलोक भी काफी बड़ा है। इसमें असंख्यात द्वीप-समुद्र है, जो एक-दूसरे को चूड़ी के समान घेरे हुए हैं। इसके केन्द्र में जम्बूद्वीप है और सबसे अन्तिम समुद्र स्वयंभूरमण है। इनमें जम्बूद्वीप थाली के आकार का है और शेष सभी द्वीप-समुद्र चूड़ी के आकार के हैं। द्वीप-

समुद्र सब एक दूसरे से दुगुने आकार वाले हैं और सबके केन्द्र में स्थित जम्बूद्वीप एक लाख योजन विस्तार वाला है।

वर्तमान जाना हुआ सम्पूर्ण विश्व तो जम्बूद्वीप के एक भाग भरतक्षेत्र का भी एक भाग मात्र है, जिसे जैन शास्त्रों में आर्यखण्ड कहा गया है।

इन असंख्यात द्वीप-समुद्रों में से मनुष्यों का निवास केवल ढ़ाई द्वीपों में ही है। ये ढाई द्वीप हैं–जम्बूद्वीप, धातकीखण्डद्वीप और अर्धपुष्करद्वीप। इन्हीं ढाई द्वीपों में तीर्थंकर उत्पन्न होते हैं और विचरण करते हैं।

जम्बूद्वीप के विदेह के मध्य भाग में मेरू पर्वत है। पर्वत के पूर्व में सीता और पश्चिम में सीतोदा महानदी है। दोनों नदियों के उत्तर और दक्षिण में आठ-आठ विजय हैं। इस प्रकार जम्बूद्वीप के महाविदेह क्षेत्र में आठ-आठ की पंक्ति में बत्तीस विजय हैं। इन दोनों विजयों में जघन्य (कम से कम) चार तीर्थंकर सदा रहते हैं अर्थात् प्रत्येक आठ विजयों की पंक्ति में कम से कम एक तीर्थंकर सदा रहते हैं। प्रत्येक विजय में एक तीर्थंकर के हिसाब से उत्कृष्ट (अधिक से अधिक) बत्तीस तीर्थंकर रहते हैं।

धातकीखण्ड और पुष्करार्धद्वीप के चारों विदेहक्षेत्रों में भी ऊपर लिखे अनुसार ही बत्तीस-बत्तीस विजय हैं। प्रत्येक विदेहक्षेत्र में ऊपर लिखे अनुसार जघन्य और उत्कृष्ट चार तथा बत्तीस तीर्थंकर सदा रहते हैं। कुल विदेह क्षेत्र पाँच और उनमें 160 विजय हैं। इस प्रकार सभी विजयों में जघन्य 20 और उत्कृष्ट 160 तीर्थंकर रहते हैं।

इन विदेहक्षेत्रों के अतिरिक्त ढाई द्वीपों में पाँच भरतक्षेत्र और पाँच ऐरावत क्षेत्र हैं। इन क्षेत्रों में उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी रूप कालचक्र है। प्रत्येक उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी में छह-छह आरे (काल विभाग) होते हैं। जब इन क्षेत्रों में अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी काल का तीसरा और चौथा आरा होता है, तब यहाँ भी प्रत्येक भरत क्षेत्र और ऐरावत क्षेत्र में एक-एक कर चौबीस तीर्थंकर होते हैं। इन दोनों क्षेत्रों में दस तीर्थंकर होते हैं। अत: पाँचों विदेहक्षेत्र के 160 और पाँच भरत तथा पांच ऐरावत क्षेत्रों के 10 कुल उत्कृष्ट 170 तीर्थंकर होते हैं लेकिन काल-परिणमन चक्र के कारण ऐसा नियम नहीं कि इन भरत और ऐरावत क्षेत्रों में तीर्थंकर सदा रहें ही। इसलिए जब तीर्थंकरों की जघन्य संख्या होती हैं तो भरत और ऐरावत क्षेत्रों में कोई तीर्थंकर नहीं रहते। सिर्फ विदेहक्षेत्रों में ही तीर्थंकर रहते हैं, अत: उनकी संख्या बीस ही रह जाती हैं।

वर्तमान काल में पाँचों विदेह क्षेत्र में बीस तीर्थंकर विद्यमान हैं। उन्हें विहरमान कहते हैं। उन सबकी आयु चौरासी लाख पूर्व की होती है। उन सभी तीर्थंकरों में हमारे निकट सीमंधर स्वामी हैं।

❊ कालचक्र

भगवान ने सृष्टि के ह्रास और विकास की गतिशीलता के रूप में अवसर्पिणी काल और उत्सर्पिणी काल का विवेचन किया। भगवान ने कहा–मनुष्य लोक के भरत और ऐरावत क्षेत्र में कालचक्र निरन्तर गतिशील रहता है। अवसर्पिणी काल के पश्चात् उत्सर्पिणी काल का प्रारंभ होता है और

उत्सर्पिणी काल के पश्चात् अवसर्पिणी काल का प्रारंभ होता है। जैसे–दिन के बाद रात और रात के बाद दिन का क्रम।

अवसर्पिणी काल में–वर्ण, गंध, रस, स्पर्श, संहनन, संस्थान, आयुष्य, शरीर, सुख आदि पर्यायों की क्रमशः हानि होती है और उत्सर्पिणी काल में–इनकी क्रमशः वृद्धि होती है। इनके मुख्य छह-छह विभाग है–

*** अवसर्पिणी काल**

1. सुषम सुषमा
2. सुषमा
3. सुषम दुःषमा
4. दुःषम सुषमा
5. दुःषमा
6. दुःषम दुषमा

*** उत्सर्पिणी काल**

1. दुःषम दुषमा
2. दुःषमा
3. दुःषम सुषमा
4. सुषम दुषमा
5. सुषमा
6. सुषम सुषमा

सुषम सुषमा

इस समय पृथ्वी पर भूमि और पदार्थ अत्यधिक स्निग्ध होते थे। वर्ण, गंध, रस और स्पर्श अत्यंत मनोज्ञ थे। मिट्टी की मिठास आज की चीनी से भी अधिक थी। इस युग में मनुष्य को प्रतिदिन भोजन की अपेक्षा ही नहीं होती, वे तीन-तीन दिन के अन्तर से अरहर की दाल जितनी वनस्पति खाते और तृप्त हो जाते। इस युग में मनुष्य की आवश्यकताओं को पूर्ण करने के लिए कल्पवृक्ष हुआ करते थे। वे कल्पवृक्ष ही उनके भोजन और भजन (वाद्यंत्र) के लिए, प्रकाश और घर के लिए, सुगंधित पुष्प और वस्त्रों जैसी अनेक आवश्यकताओं को पूर्ण करने के लिए समर्थ थे।

इस युग में किसी को भी रोग, शोक आदि बीमारियां नहीं होती थी। किसी में भी ईर्ष्या व ऊंच-नीच की भावना भी नहीं थी। सभी समान रूप से प्रकृति की गोद में पलने वाले थे। जनसंख्या सीमित थी। हर युगल-दंपति के एक ही युगल (पुत्र-पुत्री) उत्पन्न होता था। बचपन में वे भाई-बहन के रूप में रहते। युवावस्था में पति-पत्नी के रूप में जीवन यापन करते है और जीवन के संध्याकाल में वे एक युगल (पुत्र-पुत्री) को जन्म देते और कुछ ही समय में पुरुष एक छींक के साथ व महिला एक जंभाई के साथ मृत्यु को प्राप्त हो जाते। यह क्रम भगवान ऋषभ के जन्म तक चलता रहा। यह चार कोटि-कोटि सागर का एकांत सुखमय पर्व बीत जाने पर दूसरा अर का प्रारंभ हुआ।

सुषमा

इस तीन कोटि-कोटि सागर के दूसरे अर (कालखंड) में भोजन दो दिन के अन्तर से होने लगा। भोजन की मात्रा बेर के फल जितनी हो गई। जीवनकाल व शरीर की ऊंचाई कुछ घट गई। प्रथम अर की अपेक्षा प्रकृति से प्राप्त सहज समृद्धि का तथा वर्ण, गंध, रस, स्पर्श आदि का क्रमिक ह्रास हुआ। इस सुखमय अर के बीत जाने पर तीसरा अर प्रारंभ हुआ।

सुषम दुषमा

इस कालखंड में सुख में कुछ कमी आने से दुख की संवेदनाएं भी पनपी। एक दिन के अन्तर से भोजन होने लगा, मात्रा आंवला के समान हो गई। भूमि और पदार्थों की स्निग्धता में भी कमी आ गई। आवश्यकताओं को पूर्ण करने वाले कल्पवृक्ष भी कम हो गए, अतः स्वनियमन टूटने लगा, भोजन, वस्त्र और निवास की कमी आने लगी। यह दो कोटि-कोटि सागर के तीसरे कालखंड के अंत समय की बात है। इस समय भगवान ऋषभ देव का जन्म हुआ। उन्होंने असि, मसि, कृषि आदि अनेक विद्याओं व अनेक कलाओं का ज्ञान देने के साथ सिर्फ समाज और राजनीति का ही प्रवर्तन नहीं किया अपितु धर्म का प्रवर्तन कर मनुष्य समाज को संपूर्ण रूप से विकसित किया।

दुषम सुषमा

कालचक्र और आगे बढ़ा। यौगलिक काल सम्पन्न हो चुका था, विवाह पद्धतियों का प्रारंभ हो गया। जीवन की आवश्यकताओं की स्वतः पूर्ति होनी बंद हो गई। अतः जीवन परिश्रम प्रधान हो गया। उक्त पर्यायों की क्रमशः अवनति होने लगी थी। सुख कम और दुख अधिक था। 42 हजार वर्ष कम एक कोटि-कोटि सागर के इस कालखंड में जैनधर्म के 23 तीर्थंकरों का तथा 11 चक्रवर्ती[1] (प्रथम छोड़कर), 9 बलदेव[2], 9 वासुदेव[3] और 9 प्रतिवासुदेव[4] का भी जन्म हुआ।

दुःषमा

भगवान महावीर के निर्वाण के तीन वर्ष साढ़े आठ मास पश्चात् इस पांचवे अर का प्रारंभ हुआ। इस इक्कीस हजार वर्ष के पांचवें आरे में संस्कृति, मानवीय सभ्यता और भौगोलिक परिस्थिति ह्रासोन्मुखी रहेगी। इस आरे के अंत तक सोना, चांदी आदि उत्तम माने जाने वाले पदार्थ लुप्त हो जाएंगे। इस आरे के अन्तिम दिन धर्मनीति, राजनीति आदि नीतियां भी समाप्त हो जाएगी। भगवान के तीर्थ में मात्र एक साधु, एक साध्वी, एक श्रावक व एक श्राविका रहेगी। जो छठे आरे के प्रारंभ होने से पूर्व ही संथारा आदि ग्रहण कर देवलोक का वरण करेंगे।

दुःषम दुःषमा

यह इस अवसर्पिणी काल का सबसे भयावह काल है। इसके वर्णन की चेष्टा में आज का विज्ञान भी इतना स्पष्ट नहीं बता पाया, जितना भगवान महावीर ने आज से ढ़ाई हजार वर्ष पूर्व ही कह दिया था। उन्होंने इस विश्व में प्रलय से होने वाली विचित्र स्थितियों का वर्णन करते हुए बताया–इस

---

1. **चक्रवर्ती**– (1) भरत, (2) सगर, (3) मघवा, (4) सनत्कुमार, (5) शान्तिनाथ (6) कुन्थुनाथ, (7) अरनाथ, (8) सुभूम, (9) महापद्म (10) हरिषेण, (11) जयसेन, (12) ब्रह्मदत्त
2. **बलदेव**– (1) अचल, (2) विजय, (3) भद्र, (4) सुप्रभ, (5) सुदर्शन, (6) आनन्द, (7) नन्दन, (8) पद्मरथ, (9) बलभद्र।
3. **वासुदेव**– (1) त्रिपृष्ठ, (2) द्विपृष्ठ, (3) स्वयंभू, (4) पुरुषोत्तम, (5) पुरुषसिंह, (6) पुरुषपुण्डरीक, (7) दत्त, (8) लक्ष्मण, (9) कृष्ण।
4. **प्रतिवासुदेव**– (1) सुग्रीव, (2) तारक, (3) मेरक, (4) मधुकैटभ, (5) निसुम्भ, (6) बल, (7) प्रहलाद, (8) रावण, (9) जरासंध।

महादु:षम अर में सबसे पहले समवर्तक वायु चलेगी। वह इतनी प्रलयकारी होगी कि पहाड़ भी प्रकम्पित हो जाएंगे। इस युग में भी कभी-कभी चक्रवात आते हैं, उसमें बैलगाडियां, कारें उड़ जाती है, वृक्षों में अटक जाती है। वह समवर्तक वायु इतनी भयंकर होगी कि पहाड़ और गांव नष्ट हो जाएंगे, उनका अस्तित्व ही विलुप्त हो जाएगा। तीव्र आंधियां चलेंगी, जिससे सारा आकाश और सारी धरती धूल से भर जाएंगी। चन्द्रमा इतना ठंडा हो जाएगा कि रात को कोई आदमी बाहर नहीं निकल पाएगा। सूर्य इतना गर्म होगा, इतना तप्त होगा कि आदमी झुलस जाएंगे। सारा आकाश अंगारों से भर जाएगा, जीव जगत प्राय: समाप्त हो जाएगा। जो बचेंगे वे अंधे, बहरे और रुग्ण रहेंगे। उनकी आयु अधिकतम २० वर्ष रह जाएंगी तथा वे शरीर से बोने-बोने जन्मेंगे। उस समय बारिश भी होगी, मेघ भी बरसेंगे परन्तु उनका जल इतना अरस और विरस होगा, इतना क्षारयुक्त (तेजाबी) होगा कि वह विषमय और उल्लाकमय जल रोग को बढ़ाने वाला ही होगा। उसका परिणाम होगा–मनुष्य, पशु, पक्षी, वनस्पति, कीड़े-मकोड़े नष्ट हो जाएंगे। पहाड़ों में केवल एक वैताढ्य पर्वत बचेगा, जिसे आज हिमालय कहा जाता है। शेष सारे पहाड़, अरावली और विंध्याचल की घाटियां अपना अस्तित्व खो देंगी। जो कुछ लोग बचेंगे, वे हिमाचल की गुफाओं में रह जाएंगे। वे न दिन में बाहर निकल सकेंगे और न रात को बाहर निकल सकेंगे। केवल संध्याकाल में थोड़े समय के लिए बाहर आ पाएंगे। नदियां प्राय: सूख जाएंगी। केवल गंगा और सिंधु का थोड़ा सा तट अवशेष रहेगा। वे बचे हुए लोग कुछ मछलियां खाकर जैसे-तैसे अपना जीवन यापन करेंगे। चूहे बिलों में पड़े रहते है, वैसे ही मनुष्य पहाड़ की गुफाओं में दुबके रहेंगे। उनमें परस्पर कलह-क्लेश आदि भयंकर तीव्र रहेगा। यह 21 हजार वर्षों वाला महादु:षम काल बीत जाने पर आगामी उत्सर्पिणी कालचक्र का प्रारंभ होगा।

इसमे क्रम उल्टा चलेगा। प्रथम अर दु:षम दु:षमा होगा और छठा अर सुषम सुषमा होगा। काल का पहिया ऊपर की ओर घूमने से सभी स्थिति शुभ से शुभतर होती चली जाएंगी।

*** क्या आप जानते हैं–**

* तीसरे व चतुर्थ आरे में जन्में ही मोक्ष की प्राप्ति हो सकती है, शेष में नहीं।

* तीसरे व चतुर्थ आरे में जन्में ही उत्कृष्ट देवलोक व उत्कृष्ट नरक में जाया जा सकता है, शेष में नहीं।

* क्योंकि इन सब की प्राप्ति के लिए शरीर को उत्कृष्ट संहनन की अपेक्षा रहती है, जिससे वह उन शुभ-अशुभ उत्कृष्ट भावनाओं को झेलने में समर्थ बन सके और पांचवे अर में जन्म लेने वालों जीवों के उत्कृष्ट संहनन (वज्रऋषभनाराच) होता नहीं।

* आगम साहित्य में ऐसे-ऐसे मनुष्यों का उल्लेख है जिनका मुंह घोड़े की तरह होता था और जिनके पूंछ भी होती थी तथा कईयों के तो कान भी हाथी की तरह होते थे और कई एक पैर वाले मनुष्य होते थे। इस प्रकार सैकड़ों प्रकार के छप्पन अन्तर्द्वीप के जो मनुष्यों का वर्णन प्राप्त होता है, वह बहुत विचित्र है पर इससे यह बात स्पष्ट होती है कि प्राणियों की जातियां-प्रजातियां बदलते हुए भी उनकी योनि स्थिर है। ऐसा नहीं कि समय के साथ तिर्यंच (बंदर) मनुष्य बन जाएंगे और मनुष्य तिर्यंच बन जाएंगे। ये विभिन्न प्रकार चौदह लाख मनुष्य जाति में आते हैं।

पाठ-2 षड्जीवनिकाय

भगवान महावीर अंतर्दृष्टा थे, सर्वज्ञ थे। उनकी सर्वज्ञता को प्रमाणित करने के लिए एक षड्जीवनिकाय का सिद्धांत ही पर्याप्त है। दूसरा अन्य कोई साक्ष्य देने की जरूरत ही नहीं है।

षड्जीवनिकाय एक दुर्लभ विषय है, इसे अलौकिक भी कहा जा सकता है। यह किसी भी दूसरे दर्शन में प्राप्त नहीं है। मनुष्य, पशु तथा कीड़े-मकोड़े जैसे छोटे जीवों तक तो बहुत सारे तत्त्वज्ञ पहुंचे हैं। परन्तु पृथ्वी स्वयं जीव है, पानी स्वयं जीव है, अग्नि स्वयं जीव है, वायु स्वयं जीव है, वनस्पति स्वयं जीव है। इसी तरह त्रस जीव है, यह भगवान महावीर की मौलिक स्वीकृति है।

भगवान ने कहा–पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु, वनस्पति में चेतना तो है। किंतु वह व्यक्त नहीं है, अव्यक्त है। जैसे तुम्हें कष्ट का अनुभव होता है, वैसे ही उन्हें भी कष्ट का अनुभव होता है। जैसे तुम सुख-दुख की अनुभूति करते हो, वैसे ही वे भी सुख-दुख की अनुभूति करते हैं। उन्होंने इसे एक स्थूल उदाहरण से समझाया–जैसे एक आदमी आंख से अंधा है, वाणी से मूक है और कानों से बहरा है। आंख और कान इन दो इन्द्रियों के न होने का मतलब है, जगत से संपर्क का विच्छेद। आंख से देखकर या कान से सुनकर हम अपनी भावना व्यक्त करते हैं। जीभ से बोलकर हम अपनी बात कहते हैं। जो व्यक्ति अंधा भी है, बहरा भी है और मूक भी है। वह न बोल सकता है, न देख सकता है और न सुन सकता है। ऐसे प्राणी को अगर कोई सताता है तो क्या उसे कष्ट होता है?

हां भंते! होता है।

कैसे होता है?

भंते! कष्ट तो होता ही है, पर वह उसे प्रगट नहीं कर सकता। भगवान ने कहा–इसी प्रकार सूक्ष्म जीवों को चोट पहुंचाने पर कष्ट होता है, किंतु उनके पास न कान है, न आंख है और न जीभ है। उनके पास ऐसा कोई साधन नहीं है, जिससे वे अपनी वेदना की अभिव्यक्ति दे सके। किंतु उनमें भी निरन्तर प्राणधारा बह रही है इसलिए वेदना तो होगी ही। यह वचन भगवान महावीर ने आज से ढ़ाई हजार वर्ष पूर्व कहे थे। जिसे अनेक प्रयोगों के द्वारा सिद्ध होते देख आज के वैज्ञानिकों ने भी आश्चर्य व्यक्त किया। उन्होंने अपने प्रयोगों में देखा मनुष्य की तरह पौधे में भी संवेदनाएं होती है। वे अपने आस-पास के वातावरण को ही नहीं, मनुष्य के भावों को भी पकड़ लेते है।

एक दिन वैज्ञानिक बेकस्टर ने एक पौधे पर प्रयोग शुरू किया। उसने अपने पोलीग्राफ के संवेदनशील तार से पौधे की शाखा को जोड़ दिया। पौधे ने अपनी भावना जतानी शुरू की। गेल्वेनोमीटर की सूई घूमने लगी। उसने देखा पौधा प्यासा है। उसने पानी डाला। पुनः सूई घूमी, पौधे ने अपना हर्ष प्रकट कर दिया। उसने सोचा पौधे से और भी बातें करनी चाहिए। पौधे को आवेश में लाने के लिए उसने एक पत्ती को तोड़ा और उसे कॉफी में डाल दिया। पौधे में कोई खास प्रतिक्रिया नहीं हुई। उसने सोचा–इसे जला डालूं। यह चिंतन आया और गेल्वेनोमीटर की सूई घूमने लगी। बेकस्टर को बड़ा आश्चर्य हुआ। उसे पूरा भरोसा हो गया कि पौधा हर बात को पकड़ता है।

आज इन सूक्ष्म बातों को जानने के लिए डिटेक्टर, पोलीग्राफ आदि बहुत से यंत्र विकसित हो रहे है। किंतु भगवान के समय ये यंत्र नहीं थे। उन्होंने केवल अपनी अतीन्द्रिय चेतना से ही ये सारी बातों को पकड़ा और उसका इतना सूक्ष्म विवेचन किया जिसे आज अनेकानेक प्रयोगों के द्वारा भी जानना दुरुह है।

भगवान ने कहा–मिट्टी की एक डली, पानी की एक बूंद, अग्नि की एक छोटी-सी चिनगारी और वायु में असंख्य जीव हैं। वनस्पतिकाय में जीव अनंत हैं। ये विरोधी शस्त्र के योग से अचित्त (जीव मुक्त) हो जाते हैं।

प्रश्न–यदि मिट्टी की एक डली व पानी की एक बूंद में असंख्य जीव हैं तो शरीर कितने हुए?

उत्तर–असंख्य।

जब इन असंख्य जीवों का एक साथ ज्ञान कराने की आवश्यकता होती है तब हम सब जीवों का अभेद दृष्टि से 'पृथ्वीकाय', 'अप्काय' आदि शब्दों के द्वारा ज्ञान करा सकते हैं।

1. **पृथ्वीकाय**–मिट्टी, मुरड़, पत्थर, हिंगुल, हरताल, हीरा, पन्ना, कोयला, सोना, चांदी आदि सब पृथ्वीकायिक जीव हैं।

2. **अप्काय**–बरसात का जल, ओस का जल, समुद्र का जल, धूंअर का जल, कुएं, बावड़ी, तालाब, झील और नदी का जल आदि सब अप्कायिक जीव हैं।

3. **तेजस्काय**–अग्नि, अंगारे, उल्का आदि सब तेजस्कायिक जीव हैं।

४. **वायुकाय**–वायु के मुख्य पाँच भेद हैं–

1. उत्कलिका वायु–जो वायु ठहर ठहर कर चले।
2. मण्डलिका वायु–जो वायु चक्र खाती हुई चले।
3. घनवायु–जो वायु रत्नप्रभा आदि पृथ्वी के अथवा विमानों के नीचे है। वह वायु जमी हुई बर्फ की भांति गाढ़ी एवं आधारभूत है।
4. गुञ्जावायु–जो वायु चलती हुई शब्द करे।
5. शुद्धवायु–जो वायु उपरोक्त गुणों से रहित तथा मन्द-मन्द चलने वाली हो।

५. **वनस्पतिकाय**–आम, अंगूर, केला, सब्जी, आलू, प्याज, लहसुन आदि वनस्पतिकाय हैं। उसके दो भेद किए गए हैं–साधारण और प्रत्येक।

साधारण–जिसके एक शरीर में अनन्त जीव हों, उसे साधारण वनस्पतिकाय कहते हैं। सभी प्रकार के कन्द-मूल आदि साधारण वनस्पति हैं।

प्रत्येक–जिसके एक-एक शरीर में एक-एक जीव हों, उसे प्रत्येक वनस्पतिकाय कहते हैं। जैसे–

1. वृक्ष–आम आदि।
2. लता–करेला, ककड़ी आदि ।
3. तृण–दूब आदि।
4. हरितकाय–चौलाई पत्ते वाले शाक आदि।
5. जलरुह–जल में उत्पन्न होने वाले कमल आदि।

प्रत्येक वनस्पतिकाय में शरीर का निर्माण करने वाला मूलतः एक ही जीव होता है किन्तु उसके आश्रित असंख्य जीव होते हैं ।

वनस्पतिकाय में अनन्त जीव होते हैं। शेष पाँच कायों में असंख्य जीव होते हैं। पृथ्वी, पानी आदि-आदि जो हमें दिखते हैं, वे पृथ्वीकायिक, अप्कायिक आदि जीवों के शरीर हैं।

एक जाति के जीव अपनी तथा दूसरी जाति के जीवों के लिए शस्त्र होते हैं। जिस तरह शस्त्र द्वारा मनुष्यों का नाश होता है, उसी तरह परस्पर विरोधी स्वभाव के जीव एक-दूसरे का शस्त्र के समान नाश करते हैं। जैसे विरोधी स्वभाव वाले दो मिट्टियों के जीव एक-दूसरे के घातक हैं, अग्निकायिक जीव जलकायिक जीवों के लिए शस्त्र हैं, उसी तरह जलकायिक जीव अग्निकायिक जीवों के लिए शस्त्र हैं। सचित्त मिट्टी से जो सचित्त मिट्टी के जीवों का नाश होता है, वह स्वकाय-शस्त्र कहलाता है तथा अग्नि से मिट्टी के जीवों का नाश होता है, वह परकाय-शस्त्र कहलाता है। वायुकाय का शस्त्र वायुकाय ही है। सचित्त वायु से जो वायु कायिक जीवों का नाश होता है, वह स्वकाय-शस्त्र और अचित्त वायु से जो वायु कायिक जीवों का नाश होता है, वह परकाय-शस्त्र है।

इस प्रकार पृथ्वीकाय, अप्काय, तेजस्काय, वायुकाय और वनस्पतिकाय–ये पांच जीवनिकाय हुए, जिन्हें स्थावर कहा जाता है। ये एकेन्द्रिय होते हैं और छठा जीवनिकाय है–त्रस।

6. त्रसकाय–इसमें द्वीन्द्रिय से पंचेन्द्रिय तक के समस्त हिलने-चलने, घूमने-फिरने वाले जीव त्रसकायिक जीव कहलाते हैं। इन जीवों के उत्पन्न होने के मुख्यतया आठ प्रकार हैं–

1. अण्डज–वे त्रस जीव, जो अण्डों से पैदा होते हैं। जैसे–पक्षी, सर्प, आदि।
2. पोतज–वे त्रस जीव, जो अपने जन्म के समय खुले अंगों सहित होते हैं। जैसे–हाथी आदि।
3. जरायुज–वे त्रस जीव, जो अपने जन्म के समय मांस की झिल्ली से लिपटे रहते हैं। जैसे–मनुष्य, भैंस, गाय आदि।
4. रसज–वे त्रस जीव, जो दही आदि रसों में उत्पन्न होते हैं, जैसे–कृमि आदि।

5. स्वेदज–वे त्रस जीव, जो पसीने से उत्पन्न होते हैं। जैसे–जूं, लीख आदि।
6. सम्मूर्च्छिम–वे त्रस जीव, जो नर-मादा के संयोग बिना ही उत्पन्न होते हैं। जैसे–मक्खी, चींटी आदि।
7. उद्भिज–वे त्रस जीव, जो पृथ्वी को फाड़कर निकलते हैं। जैसे–टिड्डी, पतंग आदि।
8. औपपातिक–वे त्रस जीव, जो गर्भ में रहे बिना ही स्थान विशेष में पैदा होते हैं। जैसे–देव और नारक।

❊ क्या आप जानते हैं

1. निगोद वनस्पति के सूई की नोक टिके उतने भाग में अनन्त जीव होते हैं–यह एक धार्मिक सिद्धान्त है। यह सहज बुद्धिगम्य नहीं है, इसलिए चिरकाल तक संदेह का विषय बना रहा। किन्तु अब इस सूक्ष्मता में संदेह नहीं किया जा सकता। शरीरशास्त्र के अनुसार शरीर पर पिन की नोंक टिके उतने भाग में से दस लाख कोशिकाएं हैं। पांच फीट के मानव शरीर में छह सौ खरब कोशिकाएं हैं। यह विशाल संख्या वनस्पति-विषयक संख्या को संभव बना देती है।
2. खनिज धातु में जीव का सिद्धान्त बहुत विवादास्पद रहा। किन्तु अब विज्ञान के चरण उस विवाद के समाधान की दिशा में आगे बढ़ रहे हैं।

   कुछ भू-वैज्ञानिक मानते हैं कि पत्थर और पहाड़ भी बढ़ते रहते हैं। धातु का प्रहार करने पर उसमें थकान आती है। कुछ समय बाद आराम के क्षणों में वह पूर्ववत् हो जाती है। थकान आना, आरम्भ के क्षणों में पूर्व स्थिति में चले जाना–ये जीव के लक्षण हैं, जो खनिज धातु में भी पाए जाते है।
3. वनस्पति की चेतना और उसकी संवदेनशीलता चर्चा का विषय बनी हुई थी। उसमें क्रोध, अहंकार, कपट, लोभ, भय और मैथुन की प्रवृत्ति होती है। इसे स्वीकारना सहज सरल नहीं था, किन्तु वैज्ञानिक प्रयोगों द्वारा वनस्पति में इन सबका अस्तित्व प्रमाणित हो जाने पर वह विषय संदेहास्पद नहीं रहा। इस विषय में 'सीक्रेट लाइफ ऑफ प्लान्ट्स' पुस्तक पठनीय है।

पाठ-3 ईश्वरवाद

हम जिस जगत में जी रहे हैं, वह जगत आज भी रहस्य बना हुआ है। जहां जगत का प्रश्न है, वहां ईश्वर का प्रश्न अपने आप जुड़ जाता है और इसलिए जुड़ता है कि यह जगत कब बना, किसने बनाया और कैसे बनाया? ये तीन प्रश्न जगत के बारे में प्रस्तुत किए गए। इस विषय में जैन दर्शन का चिंतन रहा कि यह जगत अकृत्रिम है। किसी ने बनाया नहीं। कभी बना नहीं। कैसे बना, इसका प्रश्न ही समाप्त हो जाता है। यह अनादिकाल से है। न इसका आदि है और न इसका अंत। बात समाप्त हो जाती है।

जगत : एक विमर्श

यह चिंतन इसलिए प्रस्तुत किया गया है कि जगत को कृत मानें तो बहुत सारी समस्याएं पैदा होती हैं। ऐसे जटिल प्रश्न पैदा होते हैं, जिनका कोई समाधान दिखाई देता नहीं। यदि किसी ने जगत को बनाया तो जगत अलग हो गया और बनाने वाला जगत से अलग हो गया। जगत अलग, कर्ता अलग। अलग आया कहां से? वह जगत में है या जगत से परे? अगर बनाने वाला जगत में नहीं है तो फिर दो जगत बन गए एक अलग कोई दूसरा जगत है, जिसमें यह जगत नहीं है।

बहुत बड़ी समस्या पैदा हो जाती है, फिर ईश्वर है चेतन और जगत है अचेतन। दोनों की प्रकृति में मेल नहीं है, फिर अचेतन आया कहां से? जगत आया कहां से? कहीं बाहर से कुछ लाकर बनाया या अपने भीतर से बनाया। अगर अपने भीतर से बनाया तो बनाया नहीं, बल्कि विस्तार हुआ, फिर तो ईश्वर का विस्तार जगत है न कि ईश्वर की कृति जगत है। अगर कृति माना जाए तो बाहर से कोई मसाला लाया होगा और लाकर बनाया होगा। कुम्हार घड़ा बनाता है तो खदान से मिट्टी लाता है, फिर घड़ा बनाता है। ईश्वर भी कहां से वह मसाला लाया, जिसके द्वारा उसने जगत बनाया। क्यों बनाया? प्रयोजन क्या? प्रयोजन की भी बड़ी समस्या है। आज तक की दार्शनिक चर्चा में प्रयोजन के बारे में कोई स्पष्ट कारण नहीं बताया जा सकता कि ईश्वर ने जगत को क्यों बनाया? जो प्रयोजन बताए गए, वे ऐसे हैं, जिन पर बहुत भरोसा नहीं किया जा सकता।

यदि करुणा प्रयोजन है तो प्रश्न होगा कि यह प्रयोजन कब पैदा हुआ? यदि कहा जाए–जिस दिन ईश्वर जन्मा, उसी दिन प्रयोजन पैदा हो गया तो उसका अर्थ होगा कि ईश्वर और जगत का जन्म

एक साथ हुआ। यदि ईश्वर पहले था और प्रयोजन कभी बाद में हुआ तो प्रश्न आएगा कि प्रयोजन बाद में क्यों पैदा हुआ, पहले क्यों नहीं हुआ? उसका प्रयोजन आखिर क्या था? उत्तर दिया गया कि प्रयोजन करुणा था। ईश्वर के मन में करुणा जागी और उसने सृष्टि का निर्माण कर दिया।

एकोऽहं बहु स्याम्

यह करुणा सृष्टि का प्रयोजन है, यह कहना तर्कसंगत नहीं लगता। जहां इतनी क्रूरता और इतना आतंक है, वहां करुणावादी दृष्टिकोण सफल नहीं होता। करुणा की बात समझ में नहीं आती। दूसरे भी जितने प्रयोजन हैं, उनकी कोई संगत व्याख्या सामने नहीं आती–इन सारे दार्शनिक बिंदुओं के आधार पर जैन दर्शन ने ईश्वरवाद के अस्तित्व को नकार दिया। कहा जाता है कि ईश्वर को अकेला रहना अच्छा नहीं लगा, इसलिए उसने सोचा–एकोऽहं बहुस्याम् मैं बहुत हो जाऊं, इसलिए वह एक से बहुत हो गया। जिस प्रकार से ईश्वर की कल्पना है, उससे यह बात भी संगत नहीं लगती।

ईश्वरवाद : धार्मिक दृष्टिकोण

हमारे सामने तीन दृष्टिकोण हैं–धार्मिक दृष्टिकोण, नैतिक दृष्टिकोण और दार्शनिक दृष्टिकोण। इन तीन बिंदुओं पर ईश्वरवाद की यह अवधारणा सम्यक् नहीं उतरती।

जब प्रगति और परिवर्तन का अधिकार मनुष्य को नहीं है तो ईश्वर का अस्तित्व उसे संकट में डालने वाला है। मनुष्य न प्रगति कर सकता है और न परिवर्तन कर सकता है। जैसा है वैसा ही रहे, ये दोनों जब मनुष्य के साथ में नहीं है तो धार्मिक दृष्टिकोण से ईश्वर का अस्तित्व उसके लिए खतरनाक बन गया। इस धारणा ने रूढ़िवाद एवं निराशावाद को जन्म दिया और इसी निराशावादी दृष्टिकोण ने मनुष्य को अकिंचित्कर बना दिया।

ईश्वरवाद : नैतिक दृष्टिकोण

नैतिक दृष्टि से विचार करें कि यदि मनुष्य का संकल्प स्वतंत्र नहीं है तो वह अपने कृत के प्रति उत्तरदायी नहीं हो सकता। वही व्यक्ति कृत के प्रति उत्तरदायी हो सकता है, जिसका संकल्प स्वतंत्र है। व्यक्ति का संकल्प उसे अपने कृत के प्रति उत्तरदायी बनाता है। यदि कार्य करने में व्यक्ति स्वतंत्र नहीं है, ईश्वर ने जैसा कराया वैसा उसने कर लिया तो वह अच्छे और बुरे के लिए उत्तरादायी क्यों बनेगा? ईश्वर ने अच्छा कराया तो अच्छा कर लिया और बुरा कराया तो बुरा कर लिया। उत्तरदायी कराने वाला है या करने वाला?

एक यंत्र उत्तरदायी नहीं हो सकता। एक लौह-मानव थोड़ी दूर चलता है और फिर गोली दागता है। प्रश्न प्रस्तुत होता है कि उसका उत्तरदायी कौन है? क्या वह लौह-मानव है, यंत्र मानव है, रोबोट है? बिल्कुल नहीं। उत्तरदायी है चलाने वाला। मनुष्य जिस प्रकार चलाता है, यंत्र-मानव उसी प्रकार चलता है। यदि मनुष्य वैसा ही यंत्र-मानव या लौह-मानव है ता वह अपने कृत का उत्तरदायी नहीं कहा जा सकता। नैतिक दृष्टि से यह एक बड़ी समस्या पैदा हो जाती है, नैतिकता की बात एक प्रकार से समाप्त हो जाती है।

कर्मवाद के तीन सिद्धान्त

जैन दर्शन ने इस पर समग्रता से विचार किया। उसने पहला सूत्र दिया कर्मवाद का। हर आत्मा की स्वतंत्रता कर्मवाद का पहला आधार है। यदि व्यक्ति का संकल्प स्वतंत्र नहीं है तो वह अपने कृत के प्रति उत्तरदायी नहीं हो सकता। संकल्प करने में वह स्वतंत्र है, इसलिए कृत के प्रति उत्तरदायी है। वह अच्छा करता है तो उसका फल अच्छा होता है और बुरा करता है तो उसका फल बुरा होता है। अच्छे और बुरे का जिम्मेवार वह स्वयं है। यह संकल्प की स्वतंत्रता कर्मवाद का पहला सिद्धान्त है।

कर्मवाद का दूसरा सिद्धान्त है–कृत का नैतिक जिम्मेदार व्यक्ति स्वयं है। वह अपने कृत के प्रति नैतिक दायित्व से अलग नहीं हो सकता। कोई भी काम करता है तो उसे यह उत्तरदायित्व लेना होगा कि इसके लिए मैं स्वयं जिम्मेवार हूं।

कर्मवाद का तीसरा सिद्धान्त है–व्यक्ति को प्रगति और परिवर्तन का अधिकार है। छोटे-से-छोटे प्राणी को भी ये दोनों अधिकार उपलब्ध है। एक एकेन्द्रिय प्राणी अपना विकास करते-करते पंचेन्द्रिय तक पहुंच जाता है, मनुष्य तक पहुंच जाता है, मुनि बन जाता है। आध्यात्मिक उत्क्रांति के पथ पर चलते-चलते वह वीतराग बन जाता है, केवली बन जाता है, मुक्त आत्मा भी बन जाता है। यह आध्यात्मिक उत्क्रांति का अधिकार प्रत्येक आत्मा को उपलब्ध है। प्रत्येक आत्मा इस उत्क्रांति के आधार पर आत्मा से परमात्मा बन सकती है।

कर्मवाद में पुरुषार्थ का मूल्य

पुरुषार्थ और कर्मवाद को भी अलग नहीं किया जा सकता। ईश्वरवादी धारणा में यदि पुरुषार्थ नहीं होता है तो आश्चर्य की बात नहीं है, किंतु यदि कर्मवादी धारणा में पुरुषार्थ नहीं होता है तो इससे बड़ा कोई आश्चर्य नहीं। यह बहुत बड़ा आश्चर्य है। पुरुषार्थ और कर्मवाद का जोड़ा है। इन्हें कभी अलग नहीं किया जा सकता, किंतु कर्मवाद को सही न समझने के कारण पुरुषार्थवादी दर्शन भी अकर्मण्य दर्शन जैसा बन जाता है।

भगवान महावीर ने कर्म के विषय में अनेक सिद्धान्त दिए। अच्छे कर्म का अच्छा फल होता है और बुरे कर्म का बुरा फल होता है, यह एक सामान्य सिद्धान्त है। पुरुषार्थ के द्वारा इसे भी बदला जा सकता है। एक व्यक्ति ने बहुत अच्छा कर्म किया, क्षयोपशम भी हुआ और पुण्य का बंध भी हो गया था, किंतु कुछ समय बाद उसने बहुत बुरे कर्म किए और उसका परिणाम हुआ कि उसने जो अच्छा किया, वह बुरे में संक्रांत हो गया। एक व्यक्ति ने बहुत बुरा कार्य किया, किंतु उसने बाद में बहुत अच्छे कार्य किए, यह संभव है कि उसका बुरा कर्म अच्छे में संक्रांत हो जाए। यह संक्रमण का सिद्धान्त है। एक कथा के द्वारा इस तथ्य को स्पष्टता से समझा जा सकता है।

पुरुषार्थ का परिणाम

दो व्यक्तियों ने ज्योतिषी को हाथ दिखाया। ज्योतिषी ने हाथ देखकर बड़े भाई से कहा–'तुम एक-दो महीने के भीतर राजा बन जाओगे।' छोटे भाई से कहा–'तुम्हारा बहुत बुरा योग है। तुम

दुर्भाग्य से पीड़ित रहोगे, भिखारी बन जाओगे।' दो महीने बीते। राजा की आकस्मिक मृत्यु हो गई। मृत राजा के कोई पुत्र नहीं था। महामंत्री ने नए राजा की नियुक्ति के लिए प्राचीन परम्परा का प्रयोग किया।

एक हथिनी को सज्जित कर उसकी सूंड में वरमाला डालकर छोड़ दिया गया। परम्परा के अनुसार हथिनी जिसके गले में माला डालती है, वही राजा घोषित होता है। हथिनी ने कुछ ही घंटों बाद बाजार में खड़े छोटे भाई के गले में माला डाल दी। छोटा भाई राजा बन गया और बड़ा भाई भिखारी बन गया। राजा ने ज्योतिषी से कहा–'आपने भविष्य गलत बतलाया, उल्टा बतलाया। भिखारी बनने वाला राजा बन गया और राजा बनने वाला भिखारी बन गया।' ज्योतिषी महाशय ने गंभीर स्वर में कहा–'राजन्! मेरा भविष्य संबंधी कथन गलत नहीं था। आप बताइए कि आपने भविष्य जानने के बाद अपना समय कैसे बिताया?' राजा बोला–'मेरा बड़ा भाई इतने दिन उन्मत्त बना रहा। उसने सोचा कि मैं राजा बनूंगा, अब किस बात की चिंता है? विलासिता, फिजूलखर्ची आदि में फंस गया, निरंतर बुरे कामों में लगा रहा। मैंने सोचा कि मुझे भिखारी नहीं बनना है। ज्योतिषी के कथन को गलत सिद्ध करना है। मैं निरंतर अच्छे कार्यों, अच्छे विचारों में डूबा रहा। मैंने इन दो महीनों में एक भी बुरा काम नहीं किया। मेरा दृढ़ संकल्प था कि मुझे भिखारी नहीं बनना है।' ज्योतिषी ने कहा–'राजन्! मेरी भविष्यवाणी सही थी, किंतु आप इसका अपवाद भी जानते हैं। बुरा काम अच्छे भविष्य को भी उलट देता है और अच्छा काम बुरे भविष्य को भी अच्छा बना देता है। यह आपके सामने प्रत्यक्ष है।'

महावीर : पुरुषार्थ के प्रवक्ता

यह संक्रमण का सिद्धान्त है। आदमी राजा होते-होते भिखारी बन सकता है और भिखारी बनते-बनते राजा बन जाता है। कर्म के विषय में यह अपवाद है और यह पुरुषार्थ से संभव बना है। जैन दर्शन ने निरंतर पुरुषार्थ पर बल दिया। भगवान महावीर ने कहा–पुरुष! तू पराक्रम कर! आचारांग सूत्र में पुरुषार्थ का यह स्वर बार-बार उच्चरित हुआ है कि पराक्रम करो, वीर बनो, अपने वीर्य को छिपाओ मत। निरंतर लड़ते रहो।

यह परम पुरुषार्थ की प्रेरणा, भाग्यवाद को चकनाचूर कर देने वाली प्रेरणा है। भारतीय चिंतन और दर्शन में पुरुषार्थ पर जितना बल भगवान महावीर ने दिया, उतना किसी दूसरे ने दिया या नहीं, यह खोज का विषय है।

❊ उपसंहार

कर्मवाद और पुरुषार्थवाद–दोनों का अस्वीकार है ईश्वरवाद। भगवान महावीर ने अपना सारा जीवन इस व्याख्या में बिताया कि ईश्वरीय सृष्टि का सर्जक मनुष्य है, पर मानवीय सृष्टि का सर्जक ईश्वर नहीं है।

भगवान महावीर आत्मवादी थे। ईश्वर के अस्तित्व का प्रतिपादन करते थे, किन्तु उसकी मनुष्य से भिन्न सत्ता स्वीकार नहीं करते थे। मनुष्य ईश्वर की सृष्टि है, ईश्वर उसका सर्जक है, यह कृति और कर्ता का सिद्धान्त उन्हें स्वीकार्य नहीं था। उनकी स्थापना में आत्मा की तीन कक्षाएं हैं–

1. बहिर्-आत्मा–यह पहली कक्षा है। इसमें देह ही सब कुछ होता है। उसमें विराजमान चिन्मय आत्मा का अस्तित्व ज्ञात नहीं होता।

2. अन्तर्-आत्मा–यह दूसरी कक्षा है। इस कक्षा में सत्य उद्घाटित हो जाता है कि जैसे दूध में नवनीत व्याप्त होता है, वैसे ही देह में चिन्मय सत्ता व्याप्त है।

3. परम-आत्मा– यह तीसरी कक्षा है। इसमें चिन्मय सत्ता पर आई हुई देहरूपी भस्म दूर होने लग जाती है। आत्मा-परमात्मा के रूप में प्रकट हो जाता है।

इससे यह स्पष्ट है कि ईश्वर कोई कल्पनातीत सत्ता नहीं है। वह मनुष्य का ही चरम विकास है। जो मनुष्य विकास की उच्च कक्षा तक पहुंच जाता है, वह परमात्मा या ईश्वर है। जैन दर्शन में परमात्मा का अस्वीकार नहीं है, उसकी विश्व सृजनसत्ता का अस्वीकार है।

क्या आप जानते हैं–

* जैन दर्शन अवतारवाद को मान्यता नहीं देता।

* इस मनुष्य क्षेत्र में जो यह दिव्य चमत्कार आदि होते हैं, वह देवयोनि द्वारा कृत हो सकते हैं, क्योंकि उनमें भी मनुष्य व तिर्यंच की तरह मान-अपमान, निन्दा-प्रशंसा, सुख-दुःख, पूजा-प्रतिष्ठा, नाम-ख्याति आदि की भावनाएं होती है, पर ईश्वर इनसे भिन्न हैं, वे अपने शुद्ध स्वरूप में प्रतिष्ठित रहते हैं, वे निरंजन-निराकार और जन्म-मरण आदि से मुक्त होते हैं।

पाठ-4 आत्मवाद

दर्शन के क्षेत्र में दो प्रकार के वाद रहे–आत्मवाद और अनात्मवाद। एक का अभिमत रहा– '**अण्णो जीवो अण्णं सरीरं?**' जीव अलग है, शरीर अलग है। आत्मा अलग है, शरीर अलग है। एकमत रहा–'**तज्जीवतच्छरीर**' का–जो जीव है, वही शरीर है, जो शरीर है, वही जीव है। शरीर से अलग कोई जीव नहीं है, आत्मा नहीं है और पुनर्जन्म नहीं है।

*** आत्मा क्यों?**

अनात्मवादियों का कथन रहा–न आत्मा है, न मोक्ष है, न धर्म है, न अधर्म है, न पुण्य है, न पाप है और न उसका फल भी है। संसार के सम्बन्ध में वे वर्तमान जगत को ही प्रमुखता देते हैं। खाओ, पीओ और आराम करो, इतना ही है जीवन का लक्ष्य। पंचभूतों (पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु, आकाश) से आत्मा नाम का तत्त्व उत्पन्न होता है और पंचभूतों में ही वह विलीन हो जाता है। पंचभूतों के अतिरिक्त और कुछ नहीं है, इसलिए वर्तमान जीवन ही उनके लिए सब कुछ है। स्वर्ग, नरक, पुण्य, पाप आदि न होने से केवल वर्तमान सुख की उपलब्धि ही उनके लिए वास्तविक है।

यहां अनात्मवादियों के लिए जानने की बात यह है कि यदि पुण्य, पाप आदि की सत्ता वास्तविक हो तो उनका क्या होगा? उनका भविष्य कितना अंधकारमय और दु:खपूर्ण होगा।

यह सत्य है कि आत्मा इन्द्रिय और मन के प्रत्यक्ष नहीं है। पर इससे उसके अस्तित्व पर कोई आंच नहीं आती। विश्ववर्ती सभी द्रव्यों और पदार्थों को जानने का साधन केवल इन्द्रिय और मन का प्रत्यक्ष ही नहीं, इनके अतिरिक्त अनुभव प्रत्यक्ष, योगी प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम भी है। इन्द्रिय और मन से क्या-क्या जाना जाएगा, इनकी शक्ति अत्यंत सीमित है। इन्द्रियां सिर्फ स्पर्श, रस, गंध, रूपात्मक मूर्त द्रव्यों को जानती हैं। मन इन्द्रियों का अनुगामी है। वह उन्हीं के द्वारा जाने हुए पदार्थों के विशेष रूपों को जानता है, चिंतन करता है। आत्मा-शब्द, रूप, रस, गंध और स्पर्श से परे एक अमूर्त सत्ता है।

अमूर्त तत्त्व इन्द्रियों के द्वारा नहीं जाने जा सकते। अमूर्त क्या, कई मूर्त तत्त्व भी इन्द्रियों के द्वारा नहीं जाने जाते। वायु मूर्त है, पर दृष्टिगोचर नहीं होती। गंध मूर्त है, पर स्पर्श नहीं किया जा सकता। फिर आत्मा जैसे चेतन द्रव्य को देखने की, स्पर्श की बात ही कहां रही? वह तो अमूर्त तत्त्व है,

इसलिए इन्द्रियां उसे नहीं जान पाती। इससे इन्द्रिय प्रत्यक्ष का वैकल्प्य सिद्ध होता है न कि आत्मा का अनस्तित्व।

'मैं हूं' 'मै सुखी हूं', 'मैं दु:खी हूं' यह अनुभव शरीर को नहीं होता, किंतु उसे होता है जो शरीर से भिन्न है।

❊ आत्मा का स्वरूप

आत्मा वर्तमान में तो है। पर भूत में नहीं थी और भविष्य में नहीं रहेगी, ऐसा नहीं है। वह त्रिकालवर्ती है, तीनों कालों में उसका अस्तित्व 'था' 'है' और 'रहेगा'। उसका कभी जन्म नहीं हुआ वह अनादि-अनन्त है। न आदि है और न अंत है। वह ध्रुव है, नित्य है और चिरस्थायी है। गीता में आत्मा का वर्णन बताते हुए कहा गया–जैसे फटे हुए कपड़ों को छोड़कर मनुष्य नया कपड़ा पहनता है, वैसे ही पुराने शरीर को छोड़कर प्राणी मृत्यु के बाद नए शरीर को धारण करते हैं। अर्थात् मात्र 'पर्यायों' का परिवर्तन होता है। रूप और नाम बदलते है, पर 'जीव द्रव्य' बना का बना रहता है। संख्या की दृष्टि से विश्व में आत्माएं अनंत है और सबका स्वतंत्र अस्तित्व है। कई कर्म बद्ध हैं तो कई कर्म मुक्त। कर्म का मूल है–राग और द्वेष। यह जीव के संसार में परिभ्रमण का हेतु है। इससे मुक्त होकर हर आत्मा-परमात्मा बन सकती है। इस दृष्टि से जैनदर्शन में बताया गया कि हर आत्मा समान है। कुंथु से लेकर हाथी तक सबकी आत्मा समान है। सबके आत्मप्रदेश समान है। प्रत्येक आत्मा असंख्य ज्ञानमय आत्मप्रदेशों का एक अविभाज्य पिंड है। उनमें संकोच और विस्तार करने की क्षमता है। इसकी प्रकाश से तुलना की गई।

जैसे एक हॉल में दीपक का प्रकाश है। उस दीपक को बंद कमरे में रख दिया गया। हॉल का प्रकाश कमरे में सिमट गया। उसी दीपक के ऊपर एक ढक्कन ढक दिया गया। कमरे में फैला प्रकाश ढक्कन में समा गया। संसारी अवस्था में यह संकोच और विस्तार आत्म प्रदेशों में होता रहता है। बालक युवा होता है, युवा वृद्ध होता है। मात्र पर्याय बदलते हैं, उपकरण में फर्क आता है। आत्मा समान रहती है। जैसे एक बलशाली युवक धनुष से बाण को फेंक सकता है। परन्तु एक बालक नहीं, क्योंकि यहां मात्र शक्ति के प्रकट होने में ही फर्क है। ठीक वैसे ही जैसे–जीर्ण-शीर्ण धनुष के होने से बलशाली युवक भी बाण नहीं फेंक सकता। यहां उसके बल में कोई अंतर नहीं आता। उसी प्रकार एक बालक की, युवा की और वृद्ध की आत्मा में कहीं कोई अंतर नहीं है। मात्र प्रकटीकरण के माध्यम में उपकरण में अंतर दिख सकता है। जैन दर्शन के अनुसार आत्मा चैतन्य स्वरूप, परिणामी स्वरूप को अक्षुण्ण रखता हुआ, विभिन्न अवस्थाओं में परिणत होने वाला, कर्त्ता और भोक्ता, स्वयं अपने सत्-असत् प्रवृत्तियों से शुभ-अशुभ कर्मों का संचय करने वाला और उनका फल भोगने वाला चेतन द्रव्य है।

❊ आत्मा और शरीर का सम्बन्ध

आत्मा चेतन है, अमूर्त है और अरूपी है। शरीर अचेतन है, मूर्त है और रूपी है। इस दशा में दोनों का सम्बन्ध कैसे हो सकता है? इसका समाधान जैन दर्शन में दिया गया।

आत्मा (अपश्चानुपूर्वीतया)–न पहले और न पीछे–अनादिकाल से एक सूक्ष्म कर्म शरीर से आवृत रहती है। जिसके कारण वह निरन्तर एक के बाद एक स्थूल शरीर का निर्माण करती रहती है। यह क्रम अनादि काल से चला आ रहा है। इसके कारण आत्मा को अनवरत जन्म-मरण के प्रवाह में बहना पड़ता है। इस सूक्ष्म कर्म शरीर का आत्मा के साथ गहरा सम्बन्ध है। जैसे–तेल और तिल, घी और दूध, धातु और मिट्टी आपस में मिले हुए हैं, वैसे ही यह सूक्ष्म कर्म शरीर आत्मा से मिला हुआ है। कोल्हू आदि के द्वारा तेल खल रहित होता है, मन्थनी आदि के द्वारा घी, छाछ रहित होता है, अग्नि आदि के द्वारा धातु मिट्टी रहित होता है, वैसे ही तप, संयम आदि अंतर्मुखी प्रवृत्तियों के द्वारा आत्मा भी सर्वथा कर्म शरीर से मुक्त हो जाती है। इसे इसकी मोक्षावस्था कहते हैं अर्थात् आत्मा से परमात्मा बनने की शुद्धावस्था।

❊ कथाबोध

एक पढ़ा-लिखा युवक था। वह बौद्धिक ज्ञान से प्रखर था, परन्तु आध्यात्मिक ज्ञान से शून्य। आत्मा-परमात्मा, पूर्वजन्म-पुनर्जन्म में उसकी आस्था नहीं थी। उसके गांव में एक महात्मा आए हुए थे। वे आत्मा के बारे में बहुत अच्छा प्रवचन करते थे। मित्रों से जानकारी पाकर, वह युवक 'महात्मा' के पास जाकर बोला–'बाबा! यह क्या आत्मा-आत्मा की रट लगा रखी है? किसने देखा है आत्मा को? यदि आत्मा को देख सकते हैं तथा दूसरों को दिखा सकते हैं तो मुझे भी आत्मा दिखाओ। अन्यथा आपका प्रवचन कोरा पाखण्ड है। युवक को देख महात्मा समझ चुके थे कि यह आदमी जिज्ञासु नहीं, आग्रही है। इसे तरीके से समझाना होगा। थोड़ी सी देर इधर-उधर की बातचीत कर महात्मा ने युवक से कहा–'थोड़े से दूध की अपेक्षा है।' क्या यहां उपलब्ध हो सकता है। युवक बोला–'हां बाबा! अभी दूध लाया। वह तत्काल गया और एक प्याला भर दूध ले आया। महात्मा दूध के प्याले को हाथ में ले ध्यान से देखने लगे। युवक बोला–'बाबा! दूध अच्छा है, पी लो। देखते क्या हो? महात्मा ने कहा–'लोग कहते हैं कि दूध में मक्खन होता है।' मैं वही देख रहा था कि वह कहां है? युवक खिलखिलाकर हंस पड़ा। वह बोला–बाबा! आप तो सचमुच भोले हो। दूध में मक्खन ऐसे ही दीखता है क्या? पहले दूध को उबाला जाता है, फिर जमाया जाता है और उसके बाद मन्थनी से मथा जाता है। तब जाकर कहीं मक्खन निकलता है।

युवक की बात सुन महात्मा ने रहस्य भरी मुस्कान बिखरते हुए कहा–'वत्स! मैं कहता हूं कि शरीर में आत्मा है। पर उसका न कोई रंग-रूप है और न वह ज्ञान या तर्क का विषय है। इसलिए वह हथेली में लेकर दिखाने की चीज नहीं है। पहले शरीर को तपाओ-तपस्या करो। मन को जमाओ-ध्यान करो। उसके पश्चात् इन अंतर्मुखी प्रवृत्तियों के मंथन से आत्मा का ज्ञान हो जाएगा। स्व अनुभूति के विकास से उसका साक्षात्कार होने लग जाएगा। फिर कहीं–कोई प्रश्न, जिज्ञासा या तर्क को अवकाश नहीं रहेगा। सारी स्थिति एकदम स्पष्ट हो जाएगी।

पाठ-5 पुनर्जन्मवाद

✲ आत्मा है, आत्मा शाश्वत है, कर्म है–ये तीन सिद्धांत पुनर्जन्म को प्रमाणित करने के लिए पर्याप्त हैं। यदि आत्मा शाश्वत न हो तो पुनर्जन्म की कल्पना नहीं की जा सकती। आत्मा का अस्तित्व ही न हो तो पुनर्जन्म का प्रश्न ही नहीं होता। कर्म न हो, वाहन न हो तो फिर वाहन में बैठकर गति की कल्पना नहीं की जा सकती। आत्मा का अस्तित्व है, वह शाश्वत है और उसको परिवर्तित करने वाला, परिवर्तन के चक्र में ले जाने वाला कर्म–ये तीनों हैं तो पुनर्जन्म स्वयं सिद्ध है।

संक्षेप में कहे तो कर्म-लिप्त आत्मा का जन्म के पश्चात् मृत्यु और मृत्यु के पश्चात् जन्म होना निश्चित है और यही पुनर्जन्मवाद का सिद्धांत है।

जन्म के बाद मृत्यु और मृत्यु के बाद जन्म की परम्परा चलती है–यह विश्व की स्थिति है। जीव अपने ही प्रमाद से भिन्न-भिन्न जन्मांतर करते हैं। पुनर्जन्म कर्म-संगी जीवों के ही होता है। कर्म से मुक्त जीवों के नहीं।

राग-द्वेष कर्म-बंध के और कर्म जन्म-मृत्यु की परम्परा के कारण है। कर्म को हम 'चैतसिक-भौतिक बल' के रूप में भी मान सकते हैं। यही बल आत्मा को पुनर्जन्म लेने के लिए बाध्य करता है।

✲ पूर्वजन्म को जानने के साधन

भगवान महावीर ने पूर्वजन्म को जानने के तीन साधन बतलाएं हैं–

1. **सह सम्मुइयाए**–स्व स्मृति। स्वयं स्मृति होना।

2. **पर-वागरणेणं**–पर व्याकरण के द्वारा। प्रश्नोत्तर यानी जिज्ञासा के द्वारा पुनर्जन्म को जानना।

3. **अण्णेसिं वा अंतिए सोच्चा**–न जिज्ञासा, न स्व-स्मृति, किंतु दूसरों के पास सुनकर जानना, जैसे–किसी व्यक्ति ने कहा कि पूर्वजन्म में अमुक व्यक्ति वह था। इस बात को सुनकर पूर्वजन्म का बोध हो जाता है।

स्मृति सूक्ष्म शरीर में संचित रहती है। वह किसी निमित्त से जाग जाती है तो 'जातिस्मृति' कहलाती है। जाति का अर्थ है–जन्म। जाति स्मृति अर्थात् जन्म की स्मृति। यह 'मतिज्ञान' का ही एक विशेष प्रकार है। इससे पिछले नौ समनस्क जीवन की घटनावलियां जानी जा सकती हैं। पूर्वजन्म

में घटित घटना के समान घटना घटने पर वह पूर्व परिचित-सी लगती है। ईहा, अपोह, मार्गणा और गवेषणा करने से तथा चित्त की एकाग्रता और शुद्धि होने पर पूर्वजन्म की स्मृति उत्पन्न होती है।

प्रश्न–यदि पूर्वजन्म की स्मृति उत्पन्न होती है तो सबको क्यों नहीं होती? किसी-किसी को ही क्यों होती है?

उत्तर–जैन आगमों का कथन है कि जन्म दु:ख है और मरण भी दु:ख है। प्राणी जब जन्म लेता है, तब भी बहुत दु:ख का अनुभव करता है। कार्ल युंग ने स्मृति का विश्लेषण करते हुए कहा कि जन्म से पूर्व बच्चे में पूर्वजन्म की स्मृति होती है, किंतु जन्म के समय इतनी भयंकर यातना से उसे गुजरना पड़ता है कि उसकी सारी स्मृति नष्ट हो जाती है, विलुप्त हो जाती है।

जैसे किसी व्यक्ति को गहरा आघात लगता है, तब उसकी स्मृति नष्ट हो जाती है। जन्म की घटना यातनापूर्ण घटना है। नई दुनिया में प्रवेश इतना विचित्र होता है कि पूर्व की स्मृतियां विलुप्त हो जाती है। इसलिए इसमें कोई आश्चर्य की बात भी नहीं। जाति-स्मृति ज्ञान की अगणित घटनाएं जैन साहित्य में उपलब्ध है। इसमें विशेषत: सम्राट श्रेणिक का पुत्र मेघकुमार को भगवान महावीर द्वारा जातिस्मृति ज्ञान कराने की घटना उल्लेखनीय है। मेघकुमार को अपने पिछले जन्म में हाथी के जन्म की स्मृति हुई। उससे प्रेरित होकर मेघकुमार प्रतिबुद्ध हुए।

महात्मा बुद्ध ने अपने पैर में चुभने वाले कांटे को पूर्वजन्म में किए हुए प्राणीवध का विपाक बताया।

इस प्रकार जैन एवं जैनेत्तर साहित्यों में भी पूर्वजन्म संबंधी तथ्यों का विपुल मात्रा में उल्लेख मिलता है।

❊ पुनर्जन्म वैज्ञानिक दृष्टिकोण

आत्मा थी या नहीं? आत्मा होगी या नहीं? क्या आत्मा का अस्तित्व है? आत्मा क्या है? क्या आत्मा और पदार्थ एक हैं? आत्मा का पदार्थ से क्या संबंध है? इन प्रश्नों पर आज के वैज्ञानिकों द्वारा की गई खोजें भी महत्त्वपूर्ण हैं।

वैज्ञानिक दृष्टि से पदार्थ की तीन अवस्थाएं मानी जाती थी–ठोस, द्रव और गैस। उसके बाद चौथी अवस्था 'प्लाजमा' को भी स्वीकार किया गया, फिर पांचवीं अवस्था और खोजी गई। प्रोटोप्लाज्म यानी जैव प्लाज्म। इसका मूल स्थान मस्तिष्क है और सबसे सघन अवस्था में यह यही पाया जाता है। वैज्ञानिकों ने इसे इलेक्ट्रोन माइक्रोस्कोप द्वारा एक प्रकाश पुंज के रूप में पाया। उनका कथन रहा कि यह प्रोटोप्लाज्म मृत्यु के पश्चात् शरीर से अलग होकर वायुमंडल में प्रविष्ट हो जाता है। वहां से यह खेत-खलिहानों के माध्यम से वनस्पति में पहुंचता है। उसके बाद फल-फूल, अनाज आदि में प्रविष्ट होकर भोजन के साथ मनुष्य के शरीर में चला जाता है। ये ही प्रोटोप्लाज्म कण 'जींस' में परिवर्तित होकर नए शिशु के साथ पुन: जन्म लेते हैं।

वैज्ञानिकों ने प्रोटोप्लाज्म को आत्मा माना है। उसमें उन्होंने जो लक्षण बतलाए हैं, उसके आधार पर उसे जैन दर्शन का सूक्ष्म शरीर कहा जा सकता है, आत्मा नहीं। सूक्ष्म शरीर पुन:जन्म लेता है।

प्रोटोप्लाज्म भी पुनः 'जींस' में परिवर्तित होकर शरीर धारण करता है। सूक्ष्म शरीर न द्रव है, न गैस है, न ठोस है। प्रोटोप्लाज्म भी इससे भिन्न है। सूक्ष्म शरीर चतु:स्पर्शी होता है, इसे आंखों के द्वारा नहीं देखा जा सकता है। प्रोटोप्लाज्म भी अत्यंत सूक्ष्मकण है। अवधिज्ञानी, अतीन्द्रियज्ञानी अपने आंतरिक उपकरणों को जागृत कर सूक्ष्म शरीर को देखते हैं और वैज्ञानिक सूक्ष्मयंत्रों द्वारा प्रोटोप्लाज्म को देखते हैं। भौतिक शरीर के भीतर जो अदृश्य शरीर है, जिसे यंत्रों द्वारा देखा गया है, वह भी प्रोटोप्लाज्म या सूक्ष्म शरीर है। वैज्ञानिक भारतीय दर्शन में वर्णित आत्मा के स्वरूप को अभी तक नहीं पकड़ पाए है।

विज्ञान के क्षेत्र में आत्मा से संबद्ध खोज एवं प्रयोग अभी जारी है। पर प्रोटोप्लाज्म की खोज इस सत्य की पुष्टि करता है कि–

* आत्मा त्रैकालिक है, शाश्वत है।

* पूर्वजन्म और पुनर्जन्म उसकी अभिव्यक्ति के दो कोण है।

* वैज्ञानिकों द्वारा खोजा गया 'प्रोटोप्लाज्म' नामक तत्त्व भारतीय दर्शन में वर्णित सूक्ष्म शरीर है, आत्मा नहीं।

* सूक्ष्म शरीर संसारी आत्मा के साथ निरंतर रहने वाला है और वह नए शरीर के निर्माण का मूल बिंदु है।

*** परामनोविज्ञान**

आत्मा के अस्तित्व को स्पष्ट करने के लिए, पूर्वजन्म और पुनर्जन्म (रिइनकारनेशन) को जानने के लिए विज्ञान ने एक शाखा स्थापित की जिसे परामनोविज्ञान कहा गया।

विज्ञान एवं परामनोविज्ञान की मान्यता है कि शिशु के समृति पटल पर प्रोटोप्लाज्म जागृत होने पर स्मृति जाग जाती है, पूर्वजन्म की घटनाएं याद आने लग जाती हैं। इस स्मृति के आधार पर आज बहुत बड़े-बड़े अनुसंधान हुए हैं।

डॉ. स्टीवेंसन आदि अनेक परामनोविज्ञान मनीषियों ने पूर्वजन्म और पुनर्जन्म की घटनाओं के अनेक आंकड़े एकत्रित किए, उनका विश्लेषण किया और नए-नए तथ्य प्रस्तुत किए। जहां भी पता चला, वे लोग साक्षात् गए, घटना का अध्ययन किया, उसकी प्रामाणिकता को जांचा और फिर अनेक निष्कर्ष प्रस्तुत किए। उन्होंने ऐसी घटनाओं का उल्लेख किया है, जिनको पढ़कर हमें आश्चर्य होता है। बच्चों ने अपने पूर्वजन्म की घटनाओं का वर्णन किया, जो सचमुच विस्मयकारी है। उनकी परीक्षा की गई, वे सब सच निकलीं। सन् 1969-1970 इन दो वर्षों के अन्दर ही भारत में 108 एवं बर्मा में 80 पूर्वजन्म से संबंधित घटनाएं प्रकाश में आई है।

निष्कर्ष की भाषा में कहे तो आज वैज्ञानिक जगत में भी सैद्धान्तिक रूप से यह स्वीकार किया जा रहा है कि वर्तमान जीवन के पूर्व और पश्चात् भी जीवन है। जिसे जोड़ने वाला एक ऐसा तत्त्व है और उसमें एक ऐसी नैसर्गिक शक्ति है, जो ध्रुव (स्थायी) रहते हुए बार-बार जन्म लेती हैं।

पाठ-6 कर्मवाद

*** सब जीव सुख चाहते हैं। सबको सुख प्रिय है। वे दुख नहीं चाहते। फिर भी वह मिलता है और वे सुख चाहते हैं, फिर भी वह नहीं मिलता। इसका कारण क्या है? सुख-दुख का कर्ता कौन है? भोक्ता कौन है? कौन है इसका अंत करने वाला? कौन है सुख-दुख देने वाला? इन प्रश्नों का उत्तर कर्मवाद में दिया गया।**

सुख-दुख स्वकृत है, परकृत नहीं। सुख-दुख की कर्ता आत्मा है। वही भोक्ता है। वही सुख-दुख का अंत करने वाला है। और वही सुख-दुख देने वाला है।

* जैन दर्शन में बताया गया–आत्मा एक सूक्ष्म कर्म शरीर से आवृत रहती है। वह कर्म शरीर ही आत्मा के संसार में भव-भ्रमण का हेतु है। आत्मा की शुभ-अशुभ प्रवृत्ति के द्वारा जो कर्म पुद्गल आकृष्ट होते हैं, उन्हें कर्म कहते हैं। वे कर्म आत्मा के स्वभाव को विकृत बनाते हैं और शुभ-अशुभ फल के कारण बनते हैं। संसारी प्राणियों की विविधता का कारण भी कर्म ही है, जैसे–विद्वान तो धनहीन है और मूर्ख धनी है। योग्यता न रखते हुए भी कोई स्वामी है और योग्यता रखने वाला सेवक है, इत्यादि अगणित विविधताओं का आन्तरिक हेतु कर्म है। कर्म का मूल है–राग और द्वेष। ये दोनों मोहकर्म की शाखाएं हैं। मोह जीत लेने पर दोनों जीत लिए जाते हैं। और आत्मा के मूल गुण प्रकट हो जाते हैं।

* आत्मा के मूल गुण आठ है–केवलज्ञान, केवलदर्शन, आत्मिक सुख, क्षायक सम्यक्त्व, अटल-अवगाहन, अमूर्ति, अगुरूलघु, निरन्तराय।

इसमें प्रथम गुण है –केवलज्ञान। इसको आवृत करने वाला कर्म है– ज्ञानावरणीय कर्म। यह आत्मा के अनन्तज्ञान के प्रकट होने में रुकावट डालता है। जैसे आंख के आगे पट्टी बांधने से देखने में रुकावट होती है। वैसे ही प्रत्येक संसारी आत्मा में अनन्त ज्ञान विद्यमान होते हुए भी यह कर्म बाधक बनता है।

* आत्मा का दूसरा गुण है–केवलदर्शन। इसको आवृत करने वाला कर्म है– दर्शनावरणीय कर्म। यह आत्मा के सामान्य अवबोध में बाधक बनता है। जैसे– प्रहरी की अनुमति के बिना किसी बड़े आदमी से मिलना संभव नहीं होता, वैसे ही दर्शनावरणीय कर्म के उदय से देखने अथवा सामान्य ज्ञान में अवरोध उपस्थित होता है।

❊ आत्मा का तीसरा गुण है–आत्मिक सुख। इसमें बाधक कर्म है–वेदनीय कर्म। यह कर्म मधु से लिप्त तलवार की धार के समान है। जैसे–तलवार की धार पर लगे शहद को चाटने से स्वाद की अनुभूति होती है, उसके समान सात वेदनीय कर्म है और धार से जीभ कट जाती है, उसके समान असात वेदनीय कर्म है।

❊ आत्मा का चौथा गुण है–क्षायक सम्यक्त्व। इसमें बाधक कर्म है–मोहनीय कर्म। इसके उदय से प्राणी में सम्यक् श्रद्धा नहीं रहती। उसके हित-अहित, करणीय और अकरणीय को पहचानने की बुद्धि नष्ट हो जाती है। जैसे–मदिरापान (शराब) करने से प्राणी अपनी सुध-बुध खो देता है, वैसे ही मोहनीय कर्म के उदय से प्राणी विवेकहीन हो जाता है। उसकी विषयभोगों में आसक्ति रहती है।

❊ आत्मा का पांचवा गुण है–अटल अवगाहन (शाश्वत स्थिरता)। इसमें बाधक कर्म है–आयुष्य कर्म। यह कर्म ठीक उसी प्रकार है जिस प्रकार कारावास में रहा हुआ व्यक्ति निश्चित अवधि से पहले बाहर नहीं निकल सकता। वैसे ही निश्चित आयुष्य को पूरा भोगे बिना जीव एक भव से दूसरे भव में नहीं जा सकता। एक जन्म की आयु समाप्त होने से पहले ही अगले जन्म की आयु निश्चित होने के कारण जीव एक जन्म से छूटकर भी मुक्त नहीं हो सकता।

❊ आत्मा का छठा गुण है–अमूर्ति। इसमें बाधक कर्म है–नाम कर्म। इस कर्म के उदय से आत्मा का अमूर्तिकपन प्रकट नहीं होता। जैसे–चित्रकार नए-नए चित्रों का निर्माण करता है, वैसे ही नामकर्म के उदय से तरह-तरह के शरीर, नाना प्रकार के रूप और तरह-तरह के अंगोपांग आदि का निर्माण होता है।

❊ आत्मा का सातवां गुण है–अगुरूलघु (न छोटापन, न बड़ापन) इसमें बाधक कर्म है–गोत्रकर्म। इस कर्म को कुम्भकार के उदाहरण से समझाया गया–जैसे कुम्भकार छोटे-बड़े जैसे चाहे वैसे घड़ों को तैयार करता है, वैसे ही गोत्रकर्म के उदय से जीव अच्छी दृष्टि से देखे जाने वाले, तुच्छ दृष्टि से देखे जाने वाले, ऊंच-नीच आदि बनते हैं।

❊ आत्मा का आठवां गुण है–निरन्तराय। इसमें बाधक कर्म है–अन्तराय कर्म। यह राजा के भण्डारी (कोषाध्यक्ष) के समान है। जिस प्रकार राजा के आदेश होने पर भण्डारी के बिना दिए, वह वस्तु नहीं मिलती। वैसे ही अन्तराय कर्म दूर हुए बिना इच्छित वस्तु नहीं मिलती।

❊ ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय, आयुष्य, नाम, गोत्र और अन्तराय–ये सातो कर्म मोहकर्म के परिवार है। मोहकर्म सबमें प्रधान है।

जिस प्रकार सेनापति के मारे जाने पर सेना पलायन कर जाती है, उसी प्रकार मोहकर्म के क्षीण होने पर दूसरे कर्म क्षीण हो जाते हैं।

जिस प्रकार धूमहीन और इंधन-हीन अग्नि बुझ जाती है, उसी प्रकार मोहकर्म के क्षीण होने पर दूसरे कर्म क्षीण हो जाते हैं।

जिसकी जड़ सूख गई हो, वह वृक्ष सींचने पर भी अंकुरित नहीं होता, उसी प्रकार मोह कर्म के क्षीण होने पर पाप कर्म अंकुरित नहीं होते।

❊ प्रश्नोत्तर

प्रश्न–कर्म जड़ है, अजीव है? फिर वे जीव को यथोचित फल कैसे दे सकते हैं?

उत्तर–यह ठीक है कि कर्म-पुद्गल यह नहीं जानते कि अमुक आत्मा ने यह काम किया है, अत: उसे यह फल दिया जाए। परन्तु आत्मक्रिया के द्वारा जो शुभाशुभ पुद्गल आकृष्ट होते हैं, उनके संयोग से आत्मा की वैसी ही परिणति हो जाती है, जिससे आत्मा को उसके अनुसार फल मिल जाता है।

उदाहरण स्वरूप जैसे–शराब को नशा करने की ताकत का कब अनुभव होता है और विष ने मारने की बात कब सीखी? फिर भी शराब पीने से नशा होता है और विष खाने से मृत्यु। पथ्य भोजन आरोग्य देना नहीं जानता और दवा रोग मिटाना नहीं जानती फिर भी पथ्य भोजन से स्वास्थ्य लाभ होता है और औषधि-सेवन से रोग मिटता है।

बाह्य रूप से ग्रहण किए हुए पुद्गलों का जब इतना असर होता है तो आन्तरिक प्रवृत्ति से गृहीत कर्म-पुद्गलों का आत्मा पर असर होने में सन्देह कैसा? उचित साधनों के सहयोग से विष और औषधि की शक्ति में परिवर्तन किया जा सकता है, वैसे ही तपस्या आदि साधनों से कर्म की फल देने की शक्ति में भी परिवर्तन किया जा सकता है। अधिक स्थिति के एवं तीव्र फल देने वाले कर्म में भी उनकी स्थिति और फल देने की शक्ति में न्यूनता की जा सकती है।

प्रश्न–आत्मा अमूर्त है और कर्म मूर्त है, जड़ है। फिर इन दोनों विरोधी वस्तुओं का सम्बन्ध कैसे हो सकता है?

उत्तर–अमूर्त आत्मा के साथ मूर्त कर्म का सम्बन्ध नहीं हो सकता, किंतु अनादिकाल से आत्मा कर्म शरीर से सम्बद्ध है। अत: वे संसारस्थ आत्माएं कथंचित् मूर्त भी मानी जाती है। इस दृष्टि से कर्म का सम्बन्ध इन कोटि की आत्माओं से ही होता है जिनका कर्मों के साथ सम्बन्ध चला आ रहा है। और जो आत्माएं सर्वथा अमूर्त-कर्म मुक्त हो जाती हैं, उनसे फिर कर्म सम्बन्ध नहीं कर पाते। इसका सार इतना ही है कि कर्म युक्त आत्मा के कर्म लगते हैं और कर्म मुक्त होने पर उन आत्माओं का कर्मों के साथ सम्बन्ध नहीं हो पाता है।

प्रश्न–आत्मा के साथ पहले-पहल कर्म कैसे लगे?

उत्तर–इसका समुचित उत्तर यही है कि आत्मा और कर्म का सम्बन्ध अपश्चानुपूर्वीतया है। (न पहले और न पीछे) यदि कर्मों से पहले आत्मा को माने तो फिर उसके कर्म लगने का कोई कारण नहीं बनता। कर्मों को भी आत्मा से पहले नहीं मान सकते क्योंकि वे किए बिना होते नहीं और आत्मा के बिना कर्मों का किया जाना सर्वथा असंभव है। इन दोनों का एक साथ उत्पन्न होना भी अयौक्तिक है। पहले तो उन्हें उत्पन्न करने वाला ही नहीं। दूसरे में कल्पना करे कि यदि ईश्वर को इनका उत्पादक मान लें तो भी हमारी गुत्थी सुलझती नहीं। प्रत्युत और अधिक उलझ जाती है। फिर उस ईश्वर के निर्माता एक और ईश्वर को मानना पड़ेगा। इस तरह एक के बाद एक ईश्वरों की कतार सी लग जाएगी, जो अनन्त तक चली जाएगी, फिर भी ईश्वर का अन्त नहीं दिखेगा अत: इनका (अपश्चानुपूर्वीतया) न पहले और न पीछे अनादि काल से आत्मा के साथ कर्मों का सम्बन्ध ही संगत एवं युक्तियुक्त है।

प्रश्न–कर्मों का आत्मा के साथ अनादि सम्बन्ध है, फिर वह कर्म मुक्त कैसे हो सकती है?

उत्तर–आत्मा के साथ कर्म का अनादि सम्बन्ध प्रवाहरूप से है, व्यक्तिरूप से नहीं, क्योंकि सभी कर्म अवधि सहित होते हैं। कर्म-पुद्गलों में कोई एक भी ऐसा नहीं, जो अनादिकाल से आत्मा के साथ लगा हुआ हो। अपना फल देने की अवधि पूर्ण होने पर कर्म आत्मा से अलग हो जाते हैं। जब आत्मा कर्म बंध का द्वार रोक देती है, अर्थात् कर्म बंध के कारणभूत आश्रव का निरोध कर देती है, उस समय कर्म का बन्ध रूक जाता है और जो कर्म पहले के बंधे हुए होते हैं, वे उदय में आकर नष्ट हो जाते हैं या उदीरणा से लाकर नष्ट कर दिए जाते हैं और तब आत्मा की मुक्ति हो जाती है।

प्रश्न–क्या किसी भी कार्य की निष्पत्ति के लिए कर्म ही कारण बनता है?

उत्तर–नहीं। जैन दर्शन के अनुसार किसी भी कार्य की निष्पत्ति में एक कारण समूह का योग रहता है, जो समवाय कहलाता है। समवाय के पांच प्रकार है–काल, स्वभाव, कर्म, पुरुषार्थ और नियति।

काल–कोई भी काल के बिना कार्य नहीं कर सकता। शुभाशुभ कर्मों का फल तुरन्त ही नहीं मिलता, परन्तु कालांतर में नियत समय पर ही मिलता है। एक नवजात शिशु को बोलना या चलना सिखाने के लिए चाहे कितना ही प्रयत्न किया जाए, वह जन्मते ही बोलना या चलना नहीं सीख सकता। वह काल या समय पाकर ही सीखेगा। आम की गुठली में महावृक्ष के रूप में परिणत होने तथा हजारों आम उत्पन्न करने का स्वभाव है, परन्तु फिर भी उसे बोने के साथ ही फल नहीं मिलता, समय लगता है।

स्वभाव–आम की गुठली में अंकुरित होकर वृक्ष बनने का स्वभाव है, अतः माली का पुरुषार्थ काम आता है। माली का भाग्य फल देता है और काल के बल से अंकुर आदि बनते हैं। हरेक वस्तु का अपना-अपना स्वभाव है बबूल का पेड़ कभी आम उत्पन्न नहीं कर सकता।

कर्म–एक ही माँ के दो जुड़वे बच्चे हैं–एक सुन्दर एवं बुद्धिमान, दूसरा कुरूप एवं मूर्ख। ऐसा क्यों? काल, पुरुषार्थ, स्वभाव–ये दोनों में समान थे, फिर अन्तर क्यों? एक ही गर्भ से उत्पन्न, एक ही वातावरण फिर अन्तर कैसा? यह सब कर्म का प्रभाव है। जिस जीव ने पूर्वजन्म में अच्छे कर्म किए, उसको अच्छे संयोग प्राप्त हुए और जिसने बुरे कर्म किए, उसको प्रतिकूल संयोग मिले।

पुरुषार्थ–प्रथम क्षण का पुरुषार्थ पुरुषार्थ कहलाता है और वही दूसरे क्षण में कर्म बन जाता है। कर्म अच्छे होने पर भी पुरुषार्थ के बिना काम सिद्ध नहीं होता। खेत में अच्छी वर्षा तथा हल और बीज पास में होने पर भी जब तक किसान पुरुषार्थ कर बीजों का वपन नहीं करता, खेत अंकुरित नहीं हो सकता। भोजन सामने पड़ा रहने पर भी हाथ और मुंह का पुरुषार्थ किए बिना पेट नहीं भरता।

नियति–निकाचित बन्ध वाले कर्मों का समूह नियति है। इसको घड़ने वाला पुरुषार्थ ही है, परन्तु घड़ने के बाद पुरुषार्थ का उस पर रत्तीभर भी जोर नहीं चलता। फिर जिस घटना को जिस रूप में घटित होना होता है, वह लाख प्रयत्न करने पर भी टल नहीं सकती। सही दिशा में पर्याप्त पुरुषार्थ करने पर भी सही परिणाम नहीं आता है, तो उसे नियति पर ही छोड़ना पड़ता है।

❊ उपसंहार

आत्मा अपने भाग्य की स्वयं निर्माता है। सुख-दुख उसी के किए कर्मों का फल है। कोई भी बाहरी शक्ति आत्मा को सुख-दुख नहीं दे सकती। वह तो सिर्फ निमित्त मात्र बन सकती है। इस विश्वास के दृढ़ होने पर आत्मा दुख और विपत्ति के समय घबराती नहीं। वह दृढ़ता के साथ उन विपत्तियों का धैर्यपूर्वक सामना करती है। अपने दु:ख के लिए वह निमित्त कारणों को दोष नहीं देती। इस प्रकार कर्मवाद हमें निराशा से बचाता है। दुख सहने की शक्ति देता है और मन को शांत एवं स्थिर रखकर प्रतिकूल परिस्थितियों का सामना करने की शक्ति प्रदान करता है।

❊ कथाबोध

'प्रसन्नचन्द्र' 'पोतनपुर' नगर के अधिशास्ता थे। भगवान महावीर का उपदेश सुनकर उनको वैराग्य जगा। वे अपने लघु-पुत्र को राज्य का भार सौंपकर संयमी बन गए और तप: साधना में लीन रहने लगे ।

एक बार वे भगवान महावीर के साथ विहार करते हुए 'राजगृह' में पधारे। समवसरण के बाहर सूर्य के सामने ऊर्ध्वबाहु ध्यानस्थ खड़े वे आतापना ले रहे थे। महाराजा श्रेणिक अपने दल-बल सहित प्रभु के दर्शनार्थ आए। 'सुमुख' और 'दुर्मुख' दोनों दूत भी साथ थे। जब दुर्मुख ने ध्यानस्थ मुनि को देखा तब उसने सुमुख से कहा–'अरे सुमुख! देखो तो सही, यह ढोंगी मुनि यहाँ ध्यान में खड़ा है। अपने पुत्र के प्रति इसके दिल में तनिक भी दया नहीं है। उधर नगर पर दुश्मन राजा ने आक्रमण कर दिया, वहाँ उसका रखवाला कौन है? राज्य छीन लिया जाएगा। इसकी पत्नी का भी बुरा हाल होगा।'

दुर्मुख के ये शब्द कान में पड़ते ही प्रसन्नचन्द्र मुनि का ध्यान भंग हो गया। राज्य, पुत्र और पत्नी की चिन्ता में वे आर्त्तध्यान में उलझ गए। मन ही मन शत्रुओं से युद्ध करने लगे।

महाराज श्रेणिक ने उधर प्रभु के पास पहुँचकर प्रसन्नचन्द्र मुनि की गति के सम्बन्ध में पूछा, तब प्रभु ने कहा–'यदि इन्हीं परिणामों में उनका मरण हो जाए तो वे प्रथम नरक में जाएंगे।' श्रेणिक आश्चर्य में था। उधर मुनि की भावना क्रूर हो रही थी। इधर श्रेणिक के प्रश्नों के उत्तर में दूसरी, तीसरी. बताते-बताते सातवीं नरक प्रभु ने बता दी!'

उधर मुनि मन ही मन युद्ध में ऐसे रत हो गए कि शत्रु को मारने हेतु अपने सिर से उतारकर मुकुट फेंकना चाहा। जब सिर पर हाथ पड़ा तब भान हुआ–छि: छि:, किसका राज्य, किसका पुत्र मैं तो मुनि हूँ। हिंसा से उपरत हूं, मैं कहां सम्बन्धों में उलझ गया। यों विचार करते-करते मनोभाव बदले। सातवीं नरक से चढ़ते-चढ़ते सर्वार्थसिद्ध देवलोक तक उनके परिणाम पहुँच गए। मुनि भावों से निरन्तर ऊँचे और ऊँचे चढ़ते रहे।

इतने में सहसा राजा श्रेणिक को देव-दुन्दुभियाँ सुनाई दी। पूछने पर प्रभु ने कहा–'प्रसन्नचन्द्र मुनि ने केवलज्ञान प्राप्त कर लिया।' श्रेणिक का रोम-रोम यह संवाद सुनकर पुलकित हो उठा। प्रभु को वंदन करके वे अपने महलों की ओर बढ़े। जाते-जाते मन ही मन सोच रहे हैं–प्रसन्न चन्द्र मुनि अपने स्थान से न हिले, न डुले। प्रारम्भ से अन्त तक वैसे के वैसे खड़े नजर आ रहे हैं, पर भावों से कहाँ से कहाँ पहुँच गए।

मेरा वह दुर्मुख दूत भी अपने खराब मुँह से बात कहकर मुनि की भावना को बिगाड़ने में कैसे निमित्त बन गया।

क्या आप जानते हैं–

* कर्म परमाणुओं के प्रत्येक स्कंध में असंख्य संस्कारों के स्पंदन अंकित होते हैं। यह विषय बुद्धिगम्य नहीं है, किन्तु क्रोमोसोम (गुणसूत्र) और जीन (संस्कार-सूत्र) की वैज्ञानिक व्याख्या के पश्चात् वह विषय अस्पष्ट नहीं रहा। प्रत्येक जीन में छः लाख आदेश अंकित माने जाते हैं। जीन और कर्म का तुलनात्मक अध्ययन बहुत ही दिलचस्प विषय है।

* कर्म में बंधी आत्मा के ही नए कर्मों का बंधन होता है, कर्म से मुक्त आत्मा का कर्म बंध नहीं होता।

पाठ-7 अनेकान्तवाद

जैनदर्शन में वस्तु का समग्रता से बोध करने के लिए एक महत्त्वपूर्ण सूत्र दिया– अनेकान्तवाद। अर्थात् एक ही वस्तु में अनन्त विरोधी धर्मों का स्वीकरण। यह एक विचार पद्धति है, चिन्तनशैली है और इसके प्रतिपादन की शैली का नाम है स्याद्वाद। इसके साथ नयवाद भी जुड़ा हुआ है। जब हम किसी वस्तु के एक धर्म को ग्रहण करते हैं तो वह नय कहलाता है। यह ठीक उसी प्रकार है, जिस प्रकार वर्णमाला में केवल एक शब्द को ग्रहण किया जाए। वैसे ही वस्तु के किसी एक पक्ष का कथन नय है।

भगवान महावीर ने कहा–वस्तु के अनन्त पर्याय हैं, अनन्त कोण हैं। वस्तु के धरातल पर अनन्त कोणों का होना ही परम सत्य है। अनन्त कोणों का होना विरोध नहीं है। उनका हमारी बुद्धि की पकड़ में न आना विरोध प्रतीत होता है। वस्तु के अनन्त युगल धर्म है। उसे जाना जा सकता है, पर कहा नहीं जा सकता। क्योंकि एकक्षण में एक शब्द द्वारा एक ही धर्म को व्याख्यायित किया जा सकता है, पर एक धर्म का प्रतिपादन समग्र का प्रतिपादन नहीं हो सकता।

यह दृष्टिकोण वैज्ञानिक होने के साथ-साथ तर्कसंगत भी है। इस संसार में कोई भी धर्म यह दावा करने में सक्षम नहीं है कि उसने सत्य को समग्रता से व्याख्यायित किया है। इसी तथ्य को भगवान महावीर ने अनेकान्त के सिद्धान्त की स्थापना कर बौद्धिक अहिंसा के नए आयाम के रूप में प्रस्तुत किया। उस समय अनेक दार्शनिकों द्वारा अपने सिद्धान्त की स्थापना और दूसरों के सिद्धान्त की उत्थापना का प्रबल उपक्रम चल रहा था। उस वातावरण में महावीर ने दार्शनिकों से कहा–'तुम्हारा सिद्धान्त मिथ्या नहीं है। पर तुम अपेक्षा के धागे को तोड़कर उसका प्रतिपादन कर रहे हो, खण्ड को अखण्ड बता रहे हो, इस कोण से तुम्हारा सिद्धान्त मिथ्या है। अपेक्षा के धागे को जोड़कर उसका प्रतिपादन करो, मिथ्या सत्य हो जाएगा और खण्ड अखण्ड का प्रतीक बन जाएगा।' इस भावधारा में निमज्जन कर एक जैन मनीषी ने महावीर के दर्शन को मिथ्या दृष्टियों के समूह की संज्ञा दी। जितनी एकांगी दृष्टियां हैं, वे सब निरपेक्ष होने के कारण मिथ्या हैं। वे सब मिल जाती हैं, सापेक्षता के सूत्र में शृंखलित होकर एक हो जाती हैं तब महावीर का दर्शन बन जाता है।

सिद्धसेन दिवाकर ने यही बात काव्य की भाषा में कही है–'भगवन! सिन्धु में जैसे सरिताएं मिलती हैं, वैसे ही आपकी अनेकान्त दृष्टि में सारी दृष्टियां आकर मिल जाती हैं। उन दृष्टियों में आप नहीं मिलते, जैसे सरिताओं में सिन्धु नहीं होता।'

सत्य के विषय में चल रहा विवाद एकांगी दृष्टि का विवाद है। पांच अंधे व्यक्ति यात्रा पर जा रहे थे। एक गांव में पहुँचे। हाथी का नाम सुना, उसे देखने गए। उनका देखना आँखों का देखना नहीं था। उन्होंने हाथों से छूकर हाथी को देखा। पाँचों ने हाथी को देख लिया और चित्र कल्पना में उतार लिया। अब परस्पर चर्चा करने लगे। पहले ने कहा–'हाथी खंभे जैसा है।' दूसरा बोला–'तुम गलत कहते हो, हाथी खंभे जैसा नहीं है, वह केले के तने जैसा है।' तीसरा दोनों को झुठलाते हुए बोला–'हाथी मूसल जैसा है।' चौथा बोला–'तुम भी सही नहीं हो, हाथी सूप जैसा है।' पांचवा बोला–'तुम सब झूठे हो, हाथी मोटी रस्सी जैसा है।' उन सबने अपने-अपने अनुभव के चित्र कल्पना के ढांचे में मढ़ लिए। अब एक रेखा भर भी इधर-उधर सरकने को अवकाश नहीं रहा। वे अपने-अपने चित्र को परम सत्य और दूसरों को मिथ्या बतलाने लगे। विवाद का कहीं अन्त नहीं हुआ।

एक आदमी आया। उसके आँखें थीं। उसने पूरा हाथी देखा था। वह कुछ क्षण अंधों के विवाद को सुनता रहा। फिर बोला–भाई! तुम लड़ते क्यों हो? उन्होंने अपनी सारी कहानी सुनाई और उससे अपने-अपने पक्ष का समर्थन चाहा। आगंतुक आदमी बोला–'तुम सब झूठे हो।' पाँचों चिल्ला उठे–'यह कैसे हो सकता है?' हमने हाथी को छूकर देखा है।' आगन्तुक बोला–'तुमने हाथी को नहीं छुआ। उसके एक-एक अंग को छुआ। चलो, तुम्हारा विवाद हाथी के पास चलकर समाप्त करता हूँ।' वह उन पांचों को हाथी के पास ले आया। एक-एक अंग को छुआ कर बोला–

'तुम सच हो कि हाथी खंभे जैसा है, पर तुमने हाथी के पैर को पकड़ा, पूरा हाथी नहीं पकड़ा।'

'तुम भी सच हो कि हाथी केले के तने जैसा है, पर तुमने हाथी की सूंड पकड़ी, पूरा हाथी नहीं पकड़ा।'

'तुम भी सच हो कि हाथी मूसल जैसा है, पर तुमने हाथी का दांत पकड़ा, पूरा हाथी नहीं पकड़ा।'

'तुम भी सच हो कि हाथी सूप जैसा है, पर तुमने तो सिर्फ हाथी के कान का ही स्पर्श किया, पूरे हाथी को नहीं पकड़ा।'

'तुम भी सच हो कि हाथी मोटी रस्सी जैसा है, पर तुमने सिर्फ हाथी की पूंछ को ही पकड़ा, पूरा हाथी नहीं पकड़ा।'

'तुम अपनी-अपनी पकड़ को सत्य और दूसरों की पकड़ को मिथ्या बतलाते हो, इसलिए तुम सब झूठे हो। तुम अवयव को अवयवी में मिला दो, खण्ड को अखण्ड की धारा में बहा दो, फिर तुम सबका कथन सत्य हो जाएगा।'

विश्व का प्रत्येक मूल तत्त्व अखण्ड है। परमाणु भी अखण्ड है और आत्मा भी अखण्ड है। किन्तु कोई भी अखण्ड तत्त्व खण्ड से वियुक्त नहीं है। महावीर ने सापेक्षता के सूत्र में अखण्ड और खण्ड की एकता को साधा। उन्होंने रहस्य का अनावरण इन शब्दों में किया–'जो एक को जान लेता है, वह सबको जान लेता है। सबको जानने वाला ही एक को जान सकता है।'

आग्रही मनुष्य आँख पर आग्रह का उपनेत्र चढ़ाकर सत्य को देखता है और अनाग्रही युक्ति के अंचल में मनन का प्रयोग करता है।

आग्रही मनुष्य आँख पर आग्रह का उपनेत्र चढ़ाकर सत्य को देखता है और अनाग्रही मनुष्य अनन्त चक्षु होकर सत्य को देखता है।

भगवान महावीर का युग तत्त्व-जिज्ञासा का युग था। असंख्य जिज्ञासु व्यक्ति अपनी जिज्ञासाओं का शमन करने के लिए अपने-अपने आचार्य और अन्य बड़े-बड़े आचार्यों के पास भी जाते थे। भगवान महावीर ने अपने जीवन-काल में हजारों हजारों जिज्ञासाओं का समाधान किया। उनके सामने सबसे बड़े जिज्ञासाकार थे, उनके प्रिय शिष्य इन्द्रभूति गौतम! महावीर की वाणी का बहुत बड़ा भाग उनकी जिज्ञासाओं का समाधान है।

1. एक बार गौतम ने पूछा–'भंते! कुछ साधक कहते हैं कि साधना अरण्य में ही हो सकती है। इस विषय में आपका क्या मत है?'

'गौतम! मैं यह प्रतिपादन करता हूँ कि साधना गांव में भी हो सकती है और अरण्य में भी हो सकती है। साधना गांव में भी नहीं होती और अरण्य में भी नहीं होती।'

'भंते! यह कैसे?'

'गौतम! जो आत्मा और शरीर के भेद को जानता है वह गांव में भी साधना कर सकता है और अरण्य में भी कर सकता है। जो आत्मा और शरीर के भेद को नहीं जानता वह गांव तथा अरण्य में साधना नहीं कर सकता।'

जो साधक आत्मा को नहीं देखता, उसकी दृष्टि में ग्राम और अरण्य का प्रश्न मुख्य होता है। जो आत्मा को देखता है, उसका निवास आत्मा में ही होता है। इसलिए उसके सामने ग्राम और अरण्य का प्रश्न उपस्थित नहीं होता। यह तर्क उचित है कि यदि तुम आत्मा को देखते हो तो अरण्य में जाकर क्या करोगे और यदि तुम आत्मा को नहीं देखते तो तुम अरण्य में जाकर भी क्या कर लोगे।'

2. भगवान कौशाम्बी के चन्द्रावतरण चैत्य में विहार कर रहे थे। महाराज शतानीक की बहन जयन्ती वहाँ आई। उसने वंदन कर पूछा–

'भंते! जीवों का सोना अच्छा है या जागना अच्छा है?

'कुछ जीवों का सोना अच्छा है और कुछ जीवों का जागना अच्छा है।'

'भंते! ये दोनों कैसे?'

'अधार्मिक मनुष्य का सोना अच्छा है। वह जागकर दूसरों को सुला देता है, इसलिए उनका सोना अच्छा है।'

'धार्मिक मनुष्य का जागना अच्छा है। वह जाग कर दूसरों को जगा देता है, इसलिए उनका जागना अच्छा है।'

'भंते! जीवों का दुर्बल होना अच्छा है या सबल होना?'

'कुछ जीवों का दुर्बल होना अच्छा है और कुछ जीवों का सबल होना अच्छा है। '

'भंते! ये दोनों कैसे?'

'अधार्मिक मनुष्य का दुर्बल होना अच्छा है। वह अधर्म से 'आजीविका कर दूसरों के दु:ख का हेतु बनता है, इसलिए उनका दुर्बल होना अच्छा है।'

'धार्मिक मनुष्य का सबल होना अच्छा है। वह धर्म से आजीविका कर दूसरों के दु:ख का हेतु नहीं होता, इसलिए उनका सबल होना अच्छा है।'

'भंते! जीवों का आलसी होना अच्छा है या क्रियाशील?'

'कुछ जीवों का आलसी होना अच्छा है और कुछ जीवों का क्रियाशील होना अच्छा है।'

'भंते! ये दोनों कैसे?'

'असंयमी का आलसी होना अच्छा है, जिससे वह दूसरों का अहित न कर सके।'

'संयमी का क्रियाशील होना अच्छा है, जिससे वह दूसरों का हित साध सके।'

3. स्कंदक परिव्राजक श्रावस्ती में रहता था। भगवान कायंजला में पधारे। वह भगवान के पास आया। भगवान ने कहा–'स्कंदक! तुम्हारे मन में जिज्ञासा है कि लोक सान्त है या अनन्त!'

'भंते! मैं इसका व्याकरण चाहता हूँ।'

'मैं इसका सापेक्ष दृष्टि से व्याकरण करता हूँ। उसके अनुसार लोक सान्त भी है और अनन्त भी है।'

'भंते! यह कैसे?'

'लोक एक है, इसलिए संख्या की दृष्टि से वह सान्त है। लोक असंख्य आकाश में फैला हुआ है, इसलिए क्षेत्र की दृष्टि से वह सान्त है। लोक था, है और रहेगा, अत: काल की दृष्टि से अनन्त है। लोक वर्ण, गंध, रस, स्पर्श के पर्यायों से युक्त है, इसलिए पर्याय की दृष्टि से अनंत है।

अवरोध में विरोध देखने वाला एक चक्षु होता है और विरोध में अवरोध देखने वाले अनंत चक्षु। भगवान ने अनंत चक्षु होकर सत्य को देखा और उसे रूपायित किया।

पाठ-8 तीर्थंकर पार्श्वनाथ

तेईसवें तीर्थंकर भगवान पार्श्व ऐतिहासिक पुरुष हैं। उनका तीर्थ-प्रवर्तन भगवान महावीर से २५० वर्ष पहले हुआ। भगवान महावीर के समय तक उनकी परम्परा अविच्छिन्न थी। भगवान महावीर के माता-पिता भगवान पार्श्व के अनुयायी थे। अहिंसा और सत्य की साधना को समाजव्यापी बनाने का श्रेय भगवान पार्श्व को है। भगवान पार्श्व अहिंसक परम्परा के उन्नयन द्वारा बहुत लोकप्रिय हो गए थे। इसकी जानकारी हमें 'पुरिसादाणीय' (पुरुषादानीय) विशेषण के द्वारा मिलती है। भगवान महावीर भगवान पार्श्व के लिए इस विशेषण का सम्मानपूर्वक प्रयोग करते थे।

भगवान पार्श्व काशी नरेश अश्वसेन के पुत्र थे। इनकी माता का नाम वामादेवी था। इनका जन्म ई. पू.877 में हुआ।

नाग का उद्धार

राजकुमार पार्श्व एक बार महल से नगर का निरीक्षण कर रहे थे। उन्होंने देखा कि नागरिकों की अपार भीड़ एक ही दिशा में जा रही है। अनुचर से पता लगा—उद्यान में कमठ नामक एक घोर तपस्वी आए हुए हैं। वे पंचाग्नि तपते हैं, लोग उन्हीं के दर्शनार्थ जा रहे हैं। कुतूहलवश पार्श्व भी वहां गए। अग्नि ज्वाला आकाश को छू रही थी, बड़े-बड़े लक्कड़ जल रहे थे। पार्श्व ने अवधिज्ञान से जलते हुए लकड़ों में एक नाग-दम्पती को देखा। उन्होंने तत्काल तपस्वी से कहा—'धर्म तो अहिंसा में है, अहिंसा विहीन धर्म कैसा? तुम जो पंचाग्नि तप रहे हो, इसमें तो एक नाग और नागिन जल रहे हैं।'

तपस्वी के प्रतिकार करने पर पार्श्व ने लक्कड़ को चिरवाया। उसमें से जलते हुए नाग दम्पती बाहर आकर तड़फड़ाने लगे। पार्श्व ने उन्हें नमस्कार महामंत्र सुनाया तथा तपस्वी पर क्रोध नहीं करने की सलाह दी। उसी समय दोनों के प्राण छूट गए। मरकर वे नागकुमार देवों के इन्द्र व इन्द्राणी-धरणेन्द्र व पद्मावती के नाम से उत्पन्न हुए।

तापस का प्रभाव घट गया। चारों ओर उसका तिरस्कार होने लगा। उसने क्रुद्ध होकर अनशन कर लिया। मरकर वह मेघमाली देवता बना।

दीक्षा

भोगावली कर्मों के परिपाक की परिसमाप्ति पर भगवान पार्श्व दीक्षा के लिए उद्यत बने। लोकांतिक देवों ने आकर उनसे जन-कल्याण के लिए निवेदन किया। वर्षीदान देकर पौष कृष्णा एकादशी के दिन भगवान ने सौ व्यक्तियों के साथ वाराणसी के आश्रमपद उद्यान में पंचमुष्टि लोच किया। देवों और मनुष्यों की भारी भीड़ के बीच उन्होंने सावद्य योगों का सर्वथा त्याग किया। उस दिन प्रभु के अट्ठम तप (तेला) था। दूसरे दिन उद्यान से विहार पर कोपकटक सन्निवेश में पधारे, वहां धन्य गाथापति के घर पर उन्होंने पारणा किया। देवों ने देव-दुंदुभि द्वारा दान का महत्त्व बताया ।

उपसर्ग

भगवान अब विदेह बनकर विचरने लगे। अभिग्रहयुक्त साधना में संलग्न हुए। विचरते-विचरते वे शिवपुरी नगरी में पधारे। वहां कोशावन में ध्यानस्थ खड़े हो गए। कुछ समय बाद प्रभु वहां से विहार कर आगे तापसाश्रम में पहुंचे तथा वहीं पर वट वृक्ष के नीचे ध्यान मुद्रा में खड़े हो गए।

इधर 'कमठ' तापस ने देव होने के बाद अवधि-दर्शन से भगवान पार्श्व को देखा। देखते ही पूर्व जन्म का वैर जाग पड़ा। भगवान को कष्ट देने के लिए वह वहां आ पहुंचा। पहले तो उसने शेर, चीता, व्याघ्र, विषधर आदि के रूप बनाकर भगवान को कष्ट दिए, किन्तु प्रभु मेरु की भांति अडोल बने रहे। अपनी विफलता से देव और अधिक क्रुद्ध हो उठा। उसने मेघ की विकुर्वणा की। चारों और घनघोर घटाएं छाने लगीं। देखते-देखते मूसलाधार पानी पड़ने लगा। बढ़ता-बढ़ता वह घुटने, कमर छाती को पार करता हुआ नासाग्र तक पहुंच गया। फिर भी प्रभु अडोल थे। तभी धरणेन्द्र का आसन कंपित हुआ। अवधि ज्ञान से उसने भगवान को पानी में खड़े देखा। सेवा के लिए तत्काल दौड़ आया। वन्दन करके उसने प्रभु के पैरों के नीचे एक विशाल नाल वाला पद्म (कमल) बनाया। स्वयं ने सात फणों का सर्प बन कर भगवान के ऊपर छत्री कर दी। प्रभु के तो समभाव था, न कमठ पर रोष और न धरणेन्द्र पर अनुराग। कमठासुर देव फिर भी बारिश करता रहा। धरणेन्द्र ने फटकार कर कमठ से कहा–'रे दुष्ट! अब भी तू अपनी धृष्टता नहीं छोड़ता? प्रभु तो समता में लीन हैं और तू अधमता के गर्त में गिरता ही जा रहा है।'

धरणेन्द्र की फटकार से कमठ भयभीत हुआ। अपनी माया समेट कर प्रभु से क्षमायाचना करता हुआ चला गया। उपसर्ग शांत होने पर धरणेन्द्र भी भगवान की स्तुति कर लौट गया।

केवलज्ञान

भगवान ने तयासी (83) रातें इसी प्रकार अभिग्रह और ध्यान में बिताई। चौरासीवें दिन उन्होंने आश्रमपद उद्यान में धातकी वृक्ष के नीचे ध्यान करते हुए क्षपक श्रेणी ली। घाती-कर्मों को क्षय कर केवलत्व को प्राप्त किया।

देवेन्द्र ने केवल-महोत्सव किया। समवसरण की रचना की। वाराणसी के हजारों लोग सर्वज्ञ भगवान के दर्शनार्थ आ पहुंचे। प्रभु ने प्रवचन दिया। उनके प्रथम प्रवचन में ही तीर्थ की स्थापना हो गई। अनेक व्यक्तियों ने आगार व अणगार धर्म को स्वीकार किया।

चातुर्याम धर्म

भगवान पार्श्वनाथ चातुर्याम धर्म के अंतिम निरूपक थे। इसके पश्चात् भगवान् महावीर ने पांच महाव्रत धर्म की व्याख्या दी थी, अत: पार्श्वनाथ का धर्म 'चातुर्याम-धर्म' के नाम से प्रसिद्ध हो गया। चातुर्याम रूप चार व्रत थे–

1. सर्वथा प्राणातिपात विरमण–अहिंसा व्रत

२. सर्वथा मृषावाद विरमण–सत्यव्रत

३. सर्वथा अदत्तादान विरमण–अचौर्य व्रत

४. सर्वथा बहिद्धादान–अपरिग्रह व्रत।

चौबीस तीर्थंकरों में प्रथम और अन्तिम तीर्थंकर पांच महाव्रत रूप संयम धर्म का प्रवर्तन करते हैं। शेष बाईस तीर्थंकर चातुर्याम धर्म के प्ररूपक होते हैं। 'चातुर्याम' और 'पंचयाम' भी शब्द-भेद ही हैं। साधना दोनों की समान है। चातुर्याम धर्म में ब्रह्मचर्य को पृथक् याम (महाव्रत) नहीं माना गया, किन्तु ब्रह्मचर्य को अपरिग्रह के अन्तर्गत ले लिया गया। स्त्री द्विपद परिग्रह में मान्य थी। ब्रह्मचारी स्त्री का त्याग करता है, अत: अपरिग्रह में ब्रह्मचर्य सहज ही आ जाता है। चातुर्याम धर्म का विकास ही पंच महाव्रत धर्म हैं।

धर्म समुदायों पर प्रभाव

भगवान पार्श्व की वाणी का तत्कालीन जनमानस पर गहरा प्रभाव पड़ा। उस समय के सघन वैचारिक कुहासे में जनजीवन को उनसे अध्यात्म का आलोक मिला। उन्होंने सत्य व अहिंसा का साक्षात्कार करवाया। धर्मांधता व पशुबलि के वातावरण में उनके उपदेश व पुरुषार्थ का प्रभाव रहा। उनके समय में तापस परंपरा का प्राबल्य था। तप के नाम पर अज्ञान कष्ट बहुतायत में चल रहा था। उनकी वैराग्यप्रवण शिक्षा से सबको सम्यक् तप की अभिप्रेरणा मिली। उनकी वाणी का प्रभाव अन्य धर्मदर्शनों में परिलक्षित हुआ।

उस समय के मान्य वैदिक ऋषि पिप्पलाद पर पार्श्व के विचारों का प्रभाव पड़ा। उनका मंतव्य था कि चेतना शरीर से जब पृथक् हो जाती है तब वह शरीर विनष्ट हो जाता है। यह पार्श्व की विचारधारा का स्पष्ट प्रभाव है।

मुण्डक संप्रदाय के नेता प्रख्यात ब्राह्मण ऋषि भारद्वाज ने अपने समुन को पशु यज्ञ करने वालों से अलग रखा। वे सिर का मुंडन कराकर भिक्षा करते थे तथा प्राय: वन में रहते थे। कुछ विद्वानों ने उनकी गणना जैन संप्रदाय के अंतर्गत की है। यह युक्ति संगत नहीं लगता, किन्तु पशु बलि को मान्य न करने की अवधारणा पर पार्श्व का प्रभाव स्पष्टत: दिख रहा है।

उपनिषद्कालीन मान्य वैदिक ऋषि नचिकेता भारद्वाज के समकालीन थे और वे ज्ञानयज्ञ को स्वीकार करते थे । नचिकेता इंद्रिय निग्रह, ध्यानवृद्धि, शरीर और आत्मा के पृथक् बोध पर बल देते थे। इसी तरह कात्यायन, अजित केशकंबल आदि पर पार्श्व के विचारों का प्रभाव रहा है। ई.पू. ५८० में उत्पन्न यूनानी दार्शनिक पाइथोगोरस जो भगवान महावीर व महात्मा बुद्ध के समकालीन

हुए, उन्होंने पुनर्जन्म व कर्म सिद्धांत को स्वीकार किया। हिंसा व मांसाहार के विरुद्ध उन्होंने आवाज उठाई। इससे स्पष्ट है कि विदेशों में भी पार्श्व के मंतव्यों की गूंज रही।

बुद्ध के शाक्य देश पर भगवान पार्श्व की परंपरा का प्रभाव रहा। महात्मा बुद्ध के चाचा पार्श्व मतावलम्बी थे। यह भी संभव है कि बुद्ध के वैराग्य उद्‌भव में पार्श्व के उपदेश बीज रूप में रहे हों, तो कोई विस्मय नहीं है। कई इतिहासकार यह मानते हैं कि बुद्ध आत्मबोध पाने घूमते रहे पर उन्हें प्राप्त नहीं हुआ। जब वे राजगृह आए तो वहां उन्हें निर्ग्रन्थ श्रमण संप्रदाय में मान्य चातुर्याम धर्म बहुत पसन्द आया। आगे चलकर उन्होंने जिस अष्टांगिक मार्ग का प्रवर्तन किया, उसमें चातुर्याम धर्म का समावेश कर लिया। इनके साथ समाधि व प्रज्ञा को भी जोड़ दिया। मज्झिम निकाय के पठन से यह स्पष्ट अवगति मिलती है। कहा जाता है कि प्रारंभिक संन्यास जीवन के छः वर्षों तक उन्होंने जैन श्रमण का जीवन जीया था।

विहार एवं विचार का विस्तार

भगवान पार्श्व का विहार दूर-दूर तक हुआ। प्राप्त ऐतिहासिक सामग्री के आधार पर यह कहा जा सकता है कि भगवान पार्श्व का दूर-दूर विहार व धर्म प्रचार हुआ। काशी-कौशल से नेपाल तक भगवान का विहार क्षेत्र रहा है। सिकंदर महान, चीनी यात्री फाहियान व ह्वेंनसांग के समय उत्तर-पश्चिम सीमा प्रान्त, मिस्र, ईरान एवं अफगानिस्तान में बड़ी संख्या में जैन मुनियों के पाए जाने का उल्लेख मिलता है। ईसा पूर्व सात सौ में चीनी यात्री ह्वेंनसांग ने व इससे पूर्व सिकंदर ने मध्य एशिया के 'कियारिशि' नगर में बहुत सारे निर्ग्रन्थ संतों को देखा था। यह तभी संभव हो सकता है जब भगवान पार्श्व व उनकी परम्परा के संतों का वह विहारक्षेत्र माना जाए। संपूर्ण आर्यावर्त में उनका अतिशय प्रभाव रहा।

पार्श्व का प्रभाव बड़े-बड़े राजा-महाराजाओं पर भी था। डॉ. ज्योतिप्रसाद के अनुसार उस समय कई राज्य तो ऐसे थे जहां पार्श्व इष्टदेव माने जाते थे। उस समय के व्रात्य क्षत्रिय जैन मतानुयायी ही थे। लिच्छवी आदि आठ कुलों में विभाजित वैशाली तथा विदेह के शक्तिशाली वज्जिगण में तो मात्र पार्श्व का धर्म ही लोकप्रिय था। कलिंग के पराक्रमी नरेश करकंडु ने अपनी पूरी सत्ता व गृही जीवन की सुविधा को त्यागकर मुनि बन गए थे। पांचाल नरेश द्विमुख, विदर्भ नरेश भीम, गांधार नरेश नग्गति पार्श्व के परम भक्त थे। दक्षिण में भी पार्श्व के अनुयायी अच्छी संख्या में थे ।

अप्रतिहत प्रभाव

आत्मिक गुणों की दृष्टि से सभी तीर्थंकरों में समानता रहती है। यह भी निश्चित है कि भगवान पार्श्व की कोई ऐसी अतिरिक्त विशेषता रही है जिससे वे सर्वाधिक लोकप्रिय हो सके। जैन साहित्य में उपलब्ध स्तोत्र, यंत्र आदि अधिकांशतः पार्श्व से संबद्ध हैं। पार्श्व की भक्ति से ओत-प्रोत कई महाकाव्य, काव्य, चरित्र, स्तोत्रों की तो बहुतायत है ही इसके साथ मंदिर भी अधिक पार्श्वनाथ के मिलते हैं। अन्य तीर्थंकरों के साथ 'अरहा' विशेषण उल्लिखित हुआ है। पार्श्व के साथ 'पासेणं पुरिसादाणीए' शब्द प्रयुक्त हुआ है। पुरुषादानीय का अर्थ होता है पुरुषों में आदरपूर्वक नाम लेने योग्य। यह विशेषण उनके कोई अतिरिक्त वैशिष्ट्य को दर्शाता है।

भगवान पार्श्व के अनेक शिष्य-शिष्याएं ज्योतिष मंडल में देव-देवी बने हैं। आगमों में आता है कि स्वच्छंद मनोदशा, सुविधावाद व शिथिलाचार के वशीभूत होकर अनेक साधु-साध्वियां तथा अनेक श्रावक विराधक होकर मुख्यत: ज्योतिष मंडल में देवी-देवता बने। उनकी प्रभु पार्श्व पर आस्था यथावत् बनी रही। ऐसे २२० देवी-देवता समय-समय पर दर्शनार्थ आते रहे और अपनी ऋद्धि का प्रदर्शन करते रहे। इनमें सूर्य, चंद्र, शुक्र-ग्रह के अधिपति सहित अनेकानेक अग्रमहिषियां सम्मिलित हैं। यह भी एक कारण हो सकता है कि उपरोक्त देवी-देवता के प्रभाव से जन समुदाय प्रभावित हुआ हो। इनमें काफी देवी-देवताओं ने भगवान महावीर के सम्मुख अपनी ऋद्धि का प्रदर्शन किया तब भगवान द्वारा उनके पूर्व भव को वृत्तांत सुनाने व पार्श्व के अंतेवासी बताने से भी प्रभाव पड़ा हो।

करकंडु आदि चार प्रत्येकबुद्ध राजा भगवान पार्श्व के शिष्य बने तीर्थंकरों के निर्वाण के बाद आचार्यों की परपंरा चलती है । उपकेश चरितावली में पार्श्वनाथ की आचार्य परंपरा का परिचय प्राप्त होता है। उनके प्रथम पट्टधर गणधर शुभदत्त हुए। उनके बाद आर्य हरिदत्त, आर्य समुद्रसूरि, आर्य केशी श्रमण जैसे प्रभावक आचार्य हुए।

निर्वाण

विभिन्न प्रदेशों की पदयात्रा करके भगवान ने लाखों लोगों को मार्गदर्शन दिया। अंत में वाराणसी से आमलकल्पा आदि विभिन्न नगरों में होते हुए प्रभु सम्मेद शिखर पर पधारे। तैंतीस चरम शरीरी मुनियों के साथ अंतिम अनशन किया। एक मास के अनशन में चार अघाति कर्मों को क्षय कर निर्वाण को प्राप्त किया। देवों, इन्द्रों, मनुष्यों एवं राजाओं ने मिलकर भगवान के पार्थिव शरीर का अंतिम संस्कार किया।

प्रभु का परिवार

❊ गणधर	10
❊ केवलज्ञानी	1,000
❊ मन:पर्यवज्ञानी	750
❊ अवधिज्ञानी	1,400
❊ वैक्रिय लब्धिधारी	1,100
❊ चतुर्दश पूर्वी	350
❊ चर्चावादी	600
❊ साधु	16,000
❊ साध्वी	38,000
❊ श्रावक	1,64,000
❊ श्राविका	3,39,000

एक झलक

❋ माता	वामा
❋ पिता	अश्वसेन
❋ नगरी	वाराणसी
❋ वंश	इक्ष्वाकु
❋ गोत्र	काश्यप
❋ लक्षण	सर्प
❋ वर्ण	नील
❋ शरीर की ऊंचाई	9 हाथ
❋ यक्ष	पार्श्व
❋ यक्षिणी	पद्मावती
❋ कुमार काल	30 वर्ष
❋ राज्य काल	नहीं
❋ छद्मस्थ काल	84 दिन
❋ कुल दीक्षा पर्याय	70 वर्ष
❋ आयुष्य	100 वर्ष

पंच कल्याणक

	तिथि	**स्थान**	**नक्षत्र**
❋ च्यवन	चैत्र कृष्णा 4	प्राणत	विशाखा
❋ जन्म	पौष कृष्णा 10	वाराणसी	विशाखा
❋ दीक्षा	पौष कृष्णा 11	वाराणसी	विशाखा
❋ केवलज्ञान	चैत्र कृष्णा 4	वाराणसी	विशाखा
❋ निर्वाण	सावन शुक्ला 8	सम्मेद शिखर	विशाखा

पाठ-9 आचार्य मघराजजी

आचार्य मघवागणी तेरापंथ धर्मसंघ के पंचम आचार्य थे। उनका जन्म वि. सं. 1897 चैत्र शुक्ला एकादशी को बीदासर के बेगवानी परिवार में हुआ। उनके पिता का नाम पूरणमलजी तथा माता का नाम बन्नाजी था। उनका जन्म-नाम मघराज था। उनके एक छोटी बहिन थी, जिसका नाम था–गुलाब। दोनों ही भाई-बहिन रूप संपन्न एवं बुद्धि संपन्न थे। उन दिनों युवाचार्य जीतमलजी का चातुर्मास बीदासर में हुआ। माता बन्नाजी एवं दोनों भाई-बहिनों के हृदय में वैराग्य के बीज अंकुरित हुए। तीनों एक साथ संयम-जीवन ग्रहण करने को समुत्सुक थे पर कुमारी गुलाब साध्वी बनने के लिए निर्धारित न्यूनतम अवस्था तक नहीं पहुंची थी। इसलिए तीनों के एक साथ त्याग मार्ग पर बढ़ने में बाधा थी। पुत्री के लिए मां ने अपनी भावना का संवरण किया। बालक मघराज का मन मुनि बनने के लिए उतावला हो रहा था। उन्हें इस कार्य में थोड़ा भी विलम्ब असह्य था। मां की अनुमति प्राप्त कर युवाचार्य जीतमलजी के सामने उन्होंने अपनी भावना प्रस्तुत की और तत्त्वज्ञान सीखना शुरू कर दिया। जयाचार्य को बालक मघवा के व्यक्तित्व में अप्रतिम योग्यता का आभास हुआ।

वि. सं 1908 मृगसर कृष्णा द्वादशी के दिन बालक मघवा का भाग्योदय हुआ। लाडनूं में युवाचार्यश्री जीतमलजी के हाथ से उनका दीक्षा संस्कार सम्पन्न हुआ।

तेरापंथ के तृतीय आचार्य रायचन्दजी उस समय मेवाड़ के रावलिया गांव में विराज रहे थे। मुनि मघराज की दीक्षा के समाचार जब उनके पास पहुंचे, उस समय तीन छींकें आईं। उन्हें शुभ माना गया। पहली छींक के समय उन्होंने कहा–'यह साधु होनहार होगा।' दूसरी छींक के समय कहा–'यह मुनि अग्रणी बनकर विचरेगा।' तीसरी बार छींक के समय उनके सहज शब्द निकले–'यह मुनि जीतमल का भार संभालने वाला होगा।'

महान् पुरुषों की वाणी असफल नहीं होती। मघवागणी के संबंध में ऋषि रायचन्दजी द्वारा कहे गए शब्द सही प्रमाणित हुए। उन्होंने जयाचार्य का उत्तराधिकार संभाला।

मुनि मघराजजी ने जयाचार्य की सन्निधि में रहकर बहुमुखी विकास किया। नम्रता, सहनशीलता, गम्भीरता, पापभीरुता आदि गुण उनमें स्वभावगत थे। गुरु के प्रति उनका समर्पण अद्भुत था तो गुरु का भी उनके प्रति उतना ही वात्सल्य था। गुरु-शिष्य की यह अभिन्नता, वात्सल्य और समर्पण का एक आदर्श उदाहरण है।

मुनि मघराजजी विलक्षण व्यक्तित्व के धनी थे। वे सतत अप्रमत्त और स्थिरयोगी थे। उनकी बुद्धि इतनी प्रखर थी कि एक बार कण्ठस्थ किए हुए ग्रन्थ वे प्राय: भूलते नहीं थे। उनका हृदय बालक की तरह सरल था। तेरापंथ में संस्कृत के वे प्रथम पण्डित कहे जाते थे। साधुओं में भी वे सबके प्रिय और विश्वासपात्र थे। एक बार का प्रसंग है–किसी बालमुनि से कोई गलती हो गई। मामला पंचों (आचार्य द्वारा नियुक्त पांच साधु) के पास गया। जब निर्णय सुनाया जाने वाला था तब बालमुनि ने जयाचार्य से प्रार्थना की कि मुझे निष्पक्ष न्याय मिल सकेगा, ऐसी आशा नहीं है। जयाचार्य ने पूछा–'तुझे किस पर विश्वास है? क्या तुझे मघजी का निर्णय मान्य है?' उस साधु ने तत्काल स्वीकृति दे दी। उसी दिन से जयाचार्य ने मुनि मघराजजी को पांच पंचों के ऊपर 'श्रीपंच' नियुक्त कर दिया। उस समय मघवागणी की अवस्था मात्र चौदह वर्ष की थी।

मुनि मघराजजी की विरल विशेषताओं से प्रभावित होकर श्रीमज्जयाचार्य ने वि.सं. 1920 में उनकी युवाचार्य पद पर नियुक्ति की। उस समय उनकी आयु चौबीस वर्ष की थी। मघवागणी अठारह वर्ष तक युवाचार्य पद पर रहे। युवाचार्य अवस्था में उन्होंने धर्मसंघ के कई गुरुत्तर कार्य सम्भाल कर जयाचार्य को निश्चिंत बना दिया था। वि.सं. 1938 में जयाचार्य का स्वर्गवास होने के पश्चात् उन्होंने जयपुर में तेरापंथ का शासन-भार संभाला। मघवागणी कोमल प्रकृति के आचार्य थे। वे किसी को कड़ा उलाहना नहीं देते थे। किसी की गलती होने पर मधुर शब्दों में कहा करते–'तुम गलती करते हो, तब मुझे कहना पड़ता है।' धर्मसंघ के संचालन में मघवागणी की कोमल अनुशासना सामूहिक जीवन में अहिंसा का अभिनव प्रयोग था।

उनके शासनकाल में एक सौ उन्नीस दीक्षाएं हुईं। उनमें छत्तीस साधु और तिरयासी साध्वियां थीं। मघवागणी का स्वर्गवास वि.सं. 1949 चैत्र कृष्णा पंचमी के दिन सरदारशहर में हुआ।

पाठ-10 आचार्य माणकलालजी

माणकगणी तेरापंथ के छठे आचार्य थे। उनका जन्म वि.सं. 1912 भाद्रपद कृष्णा चतुर्थी को जयपुर नगर के जौहरी परिवार में हुआ। उनका गोत्र खारड था और जाति श्रीमाल थी। उनके पिता का नाम हुकमीचन्दजी एवं माता का नाम छोटांजी था। उनके बाबा का नाम लिछमनदासजी (लक्ष्मणदासजी) था।

माणकगणी को पिता का वात्सल्य एवं माता की ममता अधिक समय तक प्राप्त नहीं हो सकी। उनकी शैशव अवस्था में ही माता-पिता दोनों का देहावसान हो गया। लाला लिछमनदासजी ने अत्यन्त स्नेह के साथ बालक माणक का पालन-पोषण किया एवं उसे धार्मिक संस्कारों से संस्कारित किया। बालक माणक भी अपने बाबा के प्रति अत्यन्त विनम्र था एवं उनके प्रति विशेष आदर भाव रखता था।

वि.सं. 1928 का चातुर्मास जयाचार्य ने जयपुर किया। उस चातुर्मास में बालक माणक को वैराग्य हुआ। बालक ने तत्त्वज्ञान सीखा और स्वयं को साधना के लिए तैयार कर लिया। वि.सं. 1928 फाल्गुन शुक्ला एकादशी को जयाचार्य द्वारा लाडनूं में माणकगणी का दीक्षा-संस्कार सम्पन्न हुआ। उस समय उनकी आयु साढ़े सोलह वर्ष की थी।

माणकगणी प्रकृति से विनम्र थे। उनकी बुद्धि तीक्ष्ण थी। वे हर बात को बड़ी शीघ्रता से ग्रहण कर लेते थे। दीक्षा लेने के बाद कुछ ही वर्षों में उन्होंने आगमों का गम्भीर और तलस्पर्शी ज्ञान प्राप्त किया। उनकी विशेषताओं से प्रभावित होकर जयाचार्य ने उन्हें दीक्षा के तीन वर्ष बाद ही अग्रणी बना दिया।

जयाचार्य के स्वर्गवास के पश्चात् मघवागणी की अनुशासना में उन्होंने अपने जीवन का विकास किया। वि.सं. 1949 चैत्र कृष्णा द्वितीया को मघवागणी ने उन्हें अपना उत्तराधिकारी नियुक्त किया। युवाचार्य-अवस्था में रहने का उन्हें केवल चार दिन का ही अवसर मिला। वि.सं. 1949 चैत्र कृष्णा अष्टमी को सरदारशहर में वे आचार्य पद पर आसीन हुए।

माणकगणी का वर्ण गौर, कद लम्बा और कण्ठ मधुर व तेज था। शारीरिक प्रकृति से वे इतने कोमल थे कि सर्दी लगने पर एक लौंग लिया करते। यदि उससे अधिक ले लेते तो उन्हें गर्मी का आभास होने लगता। वे लम्बी यात्राएं पसन्द करते थे। तेरापंथ के आचार्यों में हरियाणा में सर्वप्रथम

पधारने वाले माणकगणी ही हैं। संघ-विकास की दृष्टि से माणकगणी ने अपना समय उन क्षेत्रों को अधिक दिया जहां पूर्वाचार्यों का विराजना कम हो सका था।

माणकगणी का चिन्तन परंपरापोषित व रूढ़ नहीं था। उनके द्वारा धर्मसंघ में कई नए उन्मेष आने की संभावना थी। लेकिन धर्मसंघ उनकी शासना से लम्बे समय तक लाभान्वित नहीं हो सका। बयालीस वर्ष की अल्पायु में ही वि. सं. 1954 कार्तिक कृष्णा तृतीया को सुजानगढ़ में उनका अचानक स्वर्गवास हो गया। वे आचार्य के रूप में पांच वर्ष ही संघ को सेवा दे सके। वे अपने पीछे किसी उत्तराधिकारी को नियुक्त नहीं कर सके।

तेरापंथ धर्मसंघ एक आचार्य केन्द्रित धर्मसंघ है। माणकगणी दिवंगत हो गए। पीछे कोई उत्तराधिकारी के रूप में नियुक्त नहीं। कौन दायित्व संभाले? समूचे धर्मसंघ के लिए एक महान् चिन्ता का विषय था। पर दूसरे शब्दों में कहें तो चिन्ता नहीं, कसौटी का समय था। उस समय समूचे संघ ने एकमत से सप्तम आचार्य के रूप में डालगणी को चुनकर कसौटी पर खरे उतरने का एक अपूर्व उदाहरण प्रस्तुत किया।

माणकगणी के आचार्य-काल में चालीस दीक्षाएं हुईं। उनमें पन्द्रह साधु और पच्चीस साध्वियां थीं।

पाठ-11 आचार्य डालचन्दजी

पूज्य डालगणी तेरापंथ के सप्तम आचार्य थे। वे आगम-मर्मज्ञ, शास्त्रार्थ-निपुण, दृढ़ संकल्पी, उग्रविहारी, कष्टसहिष्णु एवं तेजस्वी आचार्य थे। उनका जन्म वि.सं. 1909 आषाढ़ शुक्ला चतुर्थी को उज्जयिनी नगरी में हुआ। उनके पिता का नाम कानीरामजी एवं माता का नाम जड़ावांजी था। उनका गोत्र पीपाड़ा था।

पिता का देहावसान उनकी बाल्यावस्था में ही हो गया था। माता जड़ावांजी ने ही पिता और माता दोनों की भूमिका का कुशलता से निर्वाह किया।

जड़ावांजी धार्मिक प्रकृति की महिला थी। पति की मृत्यु से उन्हें भोगप्रधान जीवन से विरक्ति हो गई। बालक डालचंद ग्यारहवें वर्ष में प्रवेश करने तक काफी समझदार हो गया था। माता जड़ावांजी ने पारिवारिक जनों के संरक्षण में पुत्र की व्यवस्था कर संयम-जीवन अंगीकार कर लिया।

माता की दीक्षा ने बालक डालचंद को भी संयम जीवन ग्रहण करने हेतु उत्सुक बना दिया। उसकी वैराग्य-भावना दिन-प्रतिदिन बढ़ती गई। वि.सं. 1923 भाद्रपद कृष्णा द्वादशी के दिन इन्दौर में जयाचार्य की अनुमति से मुनि हीरालालजी ने उन्हें दीक्षित किया।

मुनि-जीवन में डालगणी को चार वर्ष तक जयाचार्य का निकट सान्निध्य प्राप्त हुआ। डालगणी के लिए यह समय ज्ञानार्जन की दिशा में वरदान सिद्ध हुआ। उन्होंने आगमों का गंभीर अध्ययन किया। उनकी तलस्पर्शी प्रतिभा आगमों के सूक्ष्म रहस्यों को खोजने में सक्षम सिद्ध हुई। उनकी तार्किक मेधा ने उन्हें महान् चर्चावादी बनाया। अनेक बार उन्होंने शास्त्रविद संतों, पंडितों एवं श्रावकों के साथ धर्म-चर्चाएं की। वि.सं. 1930 में वे अग्रणी बने। अग्रगण्य अवस्था में उन्होंने सुदूर प्रदेशों की यात्राएं कीं। कच्छ की यात्रा उन्होंने तीन बार की। कच्छ की जनता उनके तेजोमय व्यक्तित्व से अभिभूत थी। वहां के लोग उन्हें 'कच्छी पूज' कहते थे।

आचार्य माणकगणी के स्वर्गवास के पश्चात् वि.सं. 1954 में डालगणी तेरापंथ के सप्तम आचार्य बने। तेरापंथ की व्यवस्था के अनुसार भावी आचार्य का निर्वाचन वर्तमान आचार्य ही करते हैं। पर माणकगणी का बयालीस वर्ष की अल्पायु में ही अचानक स्वर्गवास हो गया। उस समय भावी आचार्य का निर्वाचन एक जटिल पहेली थी। किन्तु सब साधु-साध्वियों ने एकमत होकर डालगणी

का नाम निर्वाचित कर लिया। यह इतिहास की विलक्षण घटना है और डालगणी के व्यक्तित्व का उजला पृष्ठ है।

डालगणी के पास जयाचार्य, मघवागणी, माणकगणी–तीन आचार्यों की अनुभव संपदा थी। उन्होंने कुशलता के साथ तेरापंथ धर्मसंघ का संचालन किया और उसे अनुशासन, संगठन और मर्यादा की भूमिका पर तेजस्विता प्रदान की।

डालगणी के जीवन में कोमलता और कठोरता का अपूर्व संगम था। वे इतने तेजस्वी थे कि उनके निकट रहने वाले संत भी उनको कोई बात निवेदन करने में सकुचाते थे। कोमल इतने थे कि भक्तों की प्रार्थना को पूर्ण करने के लिए वे अपने शरीर की परवाह न करते हुए कई बार यात्रा में लंबा घुमाव ले लेते थे।

डालगणी ने बारह वर्ष तक तेरापंथ धर्मसंघ के दायित्व को कुशलता से वहन किया। शारीरिक अस्वस्थता के कारण अंतिम दो चातुर्मास डालगणी के लाडनूं में हुए। वि.सं. 1966 भाद्रपद शुक्ला द्वादशी के दिन वे इस संसार से महाप्रयाण कर गए।

डालगणी के शासनकाल में एक सौ इकसठ दीक्षाएं हुई। उनमें छत्तीस साधु और एक सौ पच्चीस साध्वियां थीं।

पाठ-12 आचार्य कालूरामजी

तेरापंथ के अष्टम आचार्य कालूगणी के शासनकाल को तेरापंथ का स्वर्णिम काल कहा जा सकता है। इस समय में तेरापंथ धर्मसंघ में शिक्षा, दीक्षा, साहित्य, साधना, कला आदि विभिन्न दिशाओं में अभूतपूर्व वृद्धि हुई। यद्यपि कालूगणी के युग में भी संघ को भयंकर विरोधों का सामना करना पड़ा था पर वे विरोध अग्नि में तपे हुए स्वर्ण की भांति संघ की गरिमा को और अधिक निखार देने वाले बने।

पूज्य कालूगणी का जन्म राजस्थान के अंतर्गत बीकानेर संभाग के छापर नामक कस्बे में वि.सं. 1933 फाल्गुन शुक्ला द्वितीया को हुआ। उनके पिता का नाम मूलचंदजी कोठारी व माता का नाम छोगांजी था। कालूगणी बचपन से ही बहुत संस्कारी थे। धर्म के प्रति उनके मन में विशेष अनुराग था। माता की धार्मिक वृत्ति ने उनके अनुराग को और अधिक वृद्धिंगत किया।

वि.सं. 1944 आश्विन शुक्ला तृतीया को पंचम आचार्य मघवागणी के करकमलों से उन्होंने अपनी माता छोगांजी के साथ दीक्षा ग्रहण की। मघवागणी के वरद हस्त की छत्रछाया में मुनि कालू की साधना एवं अध्ययन प्रारंभ हुआ। बालक अवस्था में भी कालूगणी बड़े स्थिरयोगी थे। बुद्धि तीक्ष्ण एवं प्रतिभा विलक्षण थी। मघवागणी की सन्निधि में रहने का उन्हें लगभग पांच वर्ष का ही अवसर प्राप्त हुआ। इस छोटी-सी अवधि में उन्होंने अपने को बहुआयामी विकास दिया।

मघवागणी के पश्चात् लगभग साढ़े चार वर्ष तक माणकगणी तथा बारह वर्ष तक डालगणी का शासनकाल रहा। पूज्य कालूगणी मघवागणी की तरह ही माणकगणी एवं डालगणी के सामने पूर्ण समर्पित एवं जागरूक बने रहे। उनकी अप्रमत्तता इतनी थी कि उन्हें कभी उलाहने के रूप में एक भी शब्द संभवतः सुनना नहीं पड़ा। माणकगणी के स्वर्गवासी होने के पश्चात् अन्तरिम शासन व्यवस्था को सुस्थिर बनाए रखने में कालूगणी की महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है। डालगणी ने जब से आचार्यपद को संभाला, कालूगणी की विशेषताओं से वे बहुत परिचित हो गए। परिणामस्वरूप उन्हें अपने उत्तराधिकारी की नियुक्ति के संबंध में चिंतित होना नहीं पड़ा। कालूगणी के रूप में उनके सामने बना-बनाया व्यक्तित्व था। उन्हीं को उन्होंने अपना उत्तराधिकार समर्पित कर दिया।

वि.सं. 1966 भाद्रपद शुक्ला पूर्णिमा को कालूगणी आचार्य पद पर आसीन हुए। कालूगणी का व्यक्तित्व अनूठा था। उसमें चुंबकीय आकर्षण था। एक बार तो विरोधी से विरोधी व्यक्ति भी

सहसा उनके चरणों में नत हुए बिना नहीं रहता। कालूगणी के युग में जहां श्रमण-श्रमणी संपदा का अभूतपूर्व विस्तार हुआ, वहां तेरापंथ को विकास की विविध दिशाएं मिलीं। संघ का पुस्तक भंडार काफी समृद्ध हुआ।

कला के प्रति कालूगणी का विशेष आकर्षण था। इसी आकर्षण ने साधु-साध्वियों के हर कार्य में, भले ही वह सिलाई का हो या रंगाई का, कला को प्रतिष्ठित किया। सुंदर एवं सूक्ष्म लिपि का विकास भी पूज्य कालूगणी के युग की देन है।

कालूगणी के युग में तेरापंथ का क्षेत्र विस्तार भी बहुत हुआ। मध्यप्रदेश, गुजरात, महाराष्ट्र आदि सुदूर प्रान्तों में सर्वप्रथम उन्होंने ही साधुओं को भेजा।

विद्या के क्षेत्र में और विशेषकर संस्कृत विद्या के क्षेत्र में कालूगणी के समय में उल्लेखनीय प्रगति हुई। उन्होंने न केवल संघ में संस्कृत पाठकों को ही तैयार किया अपितु 'श्री भिक्षु शब्दानुशासनम्' के रूप में संस्कृत व्याकरण को तैयार करवाकर संस्कृत विकास का एक द्वार खोल दिया।

कालूगणी के शासनकाल में चार सौ दस दीक्षाएं हुई। उनमें एक सौ पचपन साधु और दो सौ पचपन साध्वियां थीं। जब वे दिवंगत हुए तब एक सौ उनचालीस साधु और तीन सौ तैंतीस साध्वियां संघ में विद्यमान थीं।

कालूगणी का स्वर्गवास वि.सं. 1993 भाद्रपद शुक्ला षष्ठी को गंगापुर (राजस्थान) में हुआ। वे अपने स्वर्गवास के तीन दिन पूर्व ही बाईस वर्षीय युवा मुनि तुलसी के सबल कंधों पर विशाल संघ का दायित्व सौंपकर निश्चिंत बन गए थे। कालूगणी के जीवन की अनेक उपलब्धियों में इसे महत्त्वपूर्ण उपलब्धि कहा जा सकता है कि वे अपने पीछे संघ को आचार्य तुलसी के रूप में एक महान् सक्षम और सबल नेतृत्व सौंप गए।

पाठ-13 श्रावक-श्राविका जीवन-प्रसंग

धर्म की आराधना में जैसे साधु-साध्वी संघ के अंग है, वैसे श्रावक-श्राविकाएं भी है। ये चारों मिलकर ही चतुर्विध संघ को पूर्ण बनाते हैं। तेरापंथ धर्मसंघ में अनेकानेक श्रावक-श्राविकाएं ऐसे हुए हैं, जिनका जीवनवृत्त उज्ज्वल एवं प्रेरक है। प्रस्तुत पाठ में उनमें से कुछ एक का जीवन प्रसंग यहां उल्लेखित किया जा रहा है–

1. आस्था का चमत्कार

आचार्य भिक्षु के प्रमुख श्रावकों में एक नाम 'शोभजी' का है। वे केलवा (मेवाड़) के निवासी थे। आचार्य भिक्षु के प्रति उनकी आस्था प्रगाढ़ थी। वे काव्यरसिक और कुशल कवि थे। उन्होंने बहुत गीत लिखे। कहा जाता है कि उनका यह निर्णय था कि आचार्य भिक्षु जितने पद्य बनाएंगे, उनका दशमांश वे भी बनाएंगे। इस निर्णय के आधार पर वे रचना करने लगे। आचार्य भिक्षु ने ३८ हजार पद्य परिमित साहित्य की रचना की थी। शोभजी ने सौ-सौ पद्यों के पीछे दस-दस पद्य लिखे। इस क्रम से उन्होंने ३८ सौ पद्यों की रचना की।

शोभजी धार्मिक दृष्टि से जितने जागरूक थे, सांसारिक कामों में भी उतने ही दक्ष थे। पारिवारिक दायित्व संभालने के साथ वे केलवा ठिकाने (राजपरिवार) के भी प्रधान थे। वर्षों तक उन्होंने अच्छे ढंग से काम किया। एक बार किसी बात को लेकर तत्कालीन ठाकुर साहब से उनका मतभेद हो गया। राजपरिवार की प्रतिकूलता होने से वहां रहना कठिन हो गया। उन्होंने अपनी दूसरी व्यवस्था की और वे गुप्त रूप में परिवार के साथ नाथद्वारा चले गए। केलवा के ठाकुर पहले से ही रुष्ट थे। इस घटना ने आग में घी का काम किया। उन्होंने नाथद्वारा के बड़े जागीरदार गुसांईजी के साथ सांठ-गांठ की और शोभजी पर कल्पित अभियोग लगाकर उन्हें कारावास में कैद करवा दिया।

आचार्य भिक्षु उन दिनों नाथद्वारा के निकटवर्ती गांवों में विहरण कह रहे थे। शोभजी चार-पांच दिनों के अंतराल से उनके दर्शन कर लेते थे। कारावास में जाने से वह सिलसिला टूट गया। कुछ समय बाद आचार्य भिक्षु नाथद्वारा पधारे। उन्होंने शोभजी के बारे में पूछताछ की। स्थिति की सम्यक् जानकारी पाकर वे अविलंब उन्हें दर्शन देने गए। अधिकारी से पूछकर वे शोभजी की कोठरी के पास गए। वे उस समय आंख बंद किए तन्मय होकर गा रहे थे–

'मोटो फंद इण जीव रै रे, कनक कामणी दोय।
उळझ रह्यो निकळ सकूं नहीं रे, दरसण रो पड़ियो बिछोय।।
स्वामीजी रा दरसण किणविध होय?
भाऊं इणविध भावना मैं, पण जोर न चालै कोय।
स्वामीजी सूं मिलणो किण विध होय?'

आचार्य भिक्षु उनके भक्तिभरे गीत के बोल सुनकर बोले–'दरसण इणविध होय। लो, हम तुम्हें दर्शन देने आ गए हैं।' ये शब्द सुनते ही शोभजी ने आंखें खोलीं। आचार्य भिक्षु को देखते ही वे भावविह्वल हो दर्शन करने के लिए उठे और आगे बढ़े तो उनके पैरों की बेड़ियां टूट गई। जेल के अधिकारी और आरक्षक इस घटना से स्तब्ध रह गए। उनके लिए वह एक दिव्य चमत्कार था। बात गुसांईजी के पास पहुंची। एक बार तो वे असमंजस में पड़ गए। आखिर शोभजी को जेल में रखना उचित न समझकर उन्होंने उनको मुक्त कर दिया।

शोभजी जितने श्रद्धालु थे, उतने ही तत्त्व के जानकार थे। वे जहां भी जाते, संपर्क में आने वाले लोगों को तेरापंथ का तत्त्वदर्शन समझाते थे। उदयपुर के सुप्रसिद्ध श्रावक केसरजी भंडारी को उन्होंने ही समझाया था।

2. गुरु का स्थान मां-बाप से अधिक

जसोल तेरापंथ का इकरंगा क्षेत्र है। वहां के हिन्दूमलजी कोठारी प्रसिद्ध वकील थे। उनके भतीजे प्रतापमलजी कोठारी भी जसोल ठिकाने के प्रधान तथा प्रभावशाली व्यक्ति थे। चाचा-भतीजे में मकान की सीमा को लेकर तनातनी हो गई। उसका विष फैला तो परस्पर बोलचाल बन्द हो गई और मुकदमेबाजी प्रारम्भ हो गई।

उन्हीं दिनों संघ से पृथक् हुए एक मुनि अमरचंदजी जसोल में आए और संघ संघपति के विरुद्ध अनर्गल बातें प्रचारित करने लगे। प्रतापमलजी ने पहले तो उन्हें समझा-बुझाकर निन्दा से विरत करना चाहा, परन्तु वे कहने लगे कि मैं तो यहीं पर रहकर तुम्हारी छाती पर मूंग दलूंगा। प्रतापमलजी ने तब धमकी से काम लिया और कहा कि मैं यहां के ठिकाने का प्रधान हूँ। आप सम्मान से जाना चाहें तो वैसे चले जाइए अन्यथा निकलवा दिए जाएंगे। आखिर मुनि अमरचंदजी को विवश होकर वहां से चले जाना पड़ा।

हिन्दूमलजी ने उक्त घटना को प्रतापमलजी के विरुद्ध प्रचार करने में प्रयुक्त किया। वे आचार्यश्री के दर्शनार्थ बालोतरा पहुंचे। मध्याह्न में जब काफी लोग सेवा में उपस्थित थे, उन्होंने उक्त प्रसंग चलाया और पूछा कि प्रतापमल ने एक मुनि को इस प्रकार से अपमानित करके बाहर निकलवाया, यह कार्य धर्म का था या अधर्म का? आचार्यश्री ने कहा–'किसी के प्रति मन में बुरा सोचना भी अधर्म है, तब आपमानित करना और निकलवाना तो धर्म हो ही कैसे सकता है? स्पष्ट और दो टूक उत्तर पाकर भी हिन्दूमलजी ने उस बात को लोगों में प्रचारित करने के लिए बार-बार दुहराया और प्रतामलजी पर व्यंग्य कसे ।'

माणकचंदजी भण्डारी उस समय आचार्यश्री की सेवा में उपस्थित थे, उनसे नहीं रहा गया। उन्होंने हिन्दूमलजी से कहा–'कोठारी साहब! हम तो समझ रहे थे कि आप कोई गम्भीर प्रश्न पूछेंगे, पर लगता है–आप किसी व्यक्तिगत झगड़े में उलझे हुए हैं। आचार्यश्री ने धर्म पक्ष का उत्तर तो दे ही दिया है, अब व्यवहार पक्ष का उत्तर मुझ से सुन लें। मेरे पिता का नाम यहां धरती पर लिख देता हूँ। आप उस पर थप्पड़ मार दीजिए। आपके उस व्यवहार से क्रुद्ध होकर मैं आपके मुंह पर ऐसा थप्पड़ मारूंगा कि आपके नाक से खून निकल पड़े। फिर आप मेरे विरुद्ध कहीं भी मुकदमा लड़ लीजिए, आप जीत नहीं पाएंगे, क्योंकि आपने मेरे पिता का अपमान किया। गुरु तो पिता से भी बड़े होते हैं। उनका अपमान कोई 'दोगला' ही सहेगा। हमें आश्चर्य तो इस बात का है कि आप प्रतापमलजी का विरोध करने के लिए गुरु-निन्दक का पक्ष ले रहे हैं, हिंदूमलजी उस बात को फिर आगे बढ़ाने का साहस नहीं कर पाए।

3. गुरु वचन लक्ष्मण रेखा के समान

जयपुर-निवासी पनराजजी लूणिया एक अच्छे श्रद्धाशील व्यक्ति थे। सम्पन्न घर होने के कारण उनके पास हर प्रकार के व्यक्ति आते-जाते रहते थे। उनमें कुछ अच्छे होते थे तो कुछ बुरे भी। अपने मित्रों के कारण उनमें अनेक अवगुण आते चले गए। कुछ ही दिनों में उनका घर जुआरियों का अड्डा बन गया। वे स्वयं एक पक्के जुआरी बन गए।

परिवार वाले उनकी उस वृत्ति से बड़े खिन्न हुए। उस बात को लेकर यदा-कदा परिवार में कलह भी होने लगा, परन्तु वे ऐसी छोटी-मोटी बातों की क्यों परवाह करे। घर में सबसे बड़े वे ही थे, अत: उन पर एक सीमा से अधिक दबाव देने वाला कोई नहीं था। साधारण दबाव का कोई उपयुक्त परिणाम नहीं आ पाया। उनका हितैषी प्रत्येक व्यक्ति यही चाहता था कि वे उस मार्ग को छोड़ दें, किंतु सहज ही छोड़ा जा सके तो वह व्यसन ही क्या हुआ। कहने वाले कहते रहे और वे अपने ही प्रकार से चलते रहे।

पनराजजी के सुधार का जब कोई मार्ग दिखाई नहीं दिया तब उनकी पत्नी तथा पुत्र सरदारमलजी ने गुप्त रूप से एक योजना बनाई। उन लोगों ने पनराजजी के सम्मुख सुझाव रखा कि इस बार पूरे परिवार को जयाचार्य के दर्शन करवाने चाहिए। उस सुझाव को उन्होंने तत्काल स्वीकार कर लिया। वे दुर्व्यसनी अवश्य हो गए थे, परन्तु उनके धार्मिक संस्कार मरे नहीं थे। निर्धारित योजना के अनुसार परिवार के सभी सदस्य पाली में जयाचार्य के दर्शनार्थ गए।

सरदारमलजी ने एक दिन अवसर देखकर एकान्त में अपने पिता की उक्त दुर्बलता को जयाचार्य के सम्मुख रखा और उस व्यसन को छुड़ा देने की प्रार्थना की।

जयाचार्यश्री ने बाद में पनराजजी को उस विषय में कहा, परन्तु विनय युक्त अपनी विवशता बतलाकर उन्होंने इस बात को टाल दिया। जब उपदेश के सभी प्रकार प्रयुक्त कर लेने पर उन्होंने जुआ नहीं छोड़ा तब एक दिन जयाचार्य ने कठोर रुख अपनाकर उपालंभ देते हुए कहा–तुम कैसे श्रावक हो जो अपने हित के लिए कही गई बात पर भी ध्यान नहीं देते। उस पर भी वे केवल मुंह नीचा करके रह गए, किन्तु बोले नहीं।

जयाचार्य ने जब देखा कि यह घी सीधी अंगुली से निकलने वाला नहीं है तब उन्होंने आदेश के स्वर में कहा–'हाथ जोड़ो', उन्होंने विनय की सहज परम्परा के अनुसार हाथ जोड़े तो जयाचार्य ने उन्हें त्याग करवाते हुए कहा–मुझे विश्वास है कि मेरे द्वारा करवाए गए इस प्रत्याख्यान को यथावत् निभाओगे। मैंने इसी विश्वास पर तुम्हारा मन न होते हुए भी यह त्याग करवा दिया है। पनराजजी जयाचार्य की उस बात का न तो कोई प्रतिवाद कर पाए और न अस्वीकार। लज्जा के भार से दबे हुए, वे चुपचाप वहां से उठ कर बाहर चले गए।

कुछ दिन सेवा कर लेने के पश्चात् जब पनराजजी पुनः जयपुर पहुंचे तब उनके सम्मुख यह बात एक समस्या के रूप में खड़ी हो गई कि वे अब अपने मित्रों से क्या कहें? उन्होंने एक उपाय निकाला। जब मित्रों के आगमन का समय हुआ तब उससे पूर्व ही श्मशान भूमि में जाकर उन्होंने सामायिक ग्रहण कर ली और ध्यानस्थ हो गए। कुछ दिन तक ऐसा करते रहने से उस मित्र मंडली ने अपनी बैठक कहीं अन्यत्र जमा ली। फलतः वे उस कुसंगति से सहज ही मुक्त हो गए।

एक बार वे श्मशान भूमि में सामायिक ग्रहण कर ध्यानस्थ बैठे थे, उसी समय एक जुआरी मित्र वहां आया। वह जुए में सब कुछ खो चुका था। उसे तत्काल रुपयों की आवश्यकता थी, पर स्थिति यह थी कि उसे कोई उधार देने तक को उद्यत नहीं था। अनन्योपाय होकर ही वह वहां आया था। उसने उनकी अंगुली में पहनी हुई हीरे की अंगूठी निकाल ली। जाते समय उन्हें धर्म और गुरु की सौगंध दिला दी कि यह बात किसी तीसरे व्यक्ति के सम्मुख मत कहना। वह व्यक्ति वहां से जोधपुर चला गया। पनराजजी भी सामायिक आने पर ध्यान पार कर चुपचाप घर वापस आ गए। उन्होंने अंगूठी की कहीं कोई चर्चा नहीं की, किंतु वह छिपने वाली बात थोड़े ही थी। घर वालों ने जब उनकी अंगुली में अंगूठी नहीं देखी तो चट से पूछ लिया कि आज अंगूठी कहां गई? पनराजजी लाठी और भींत के बीच में आ गए। वे यह निर्णय नहीं कर पाए कि उस विषय में क्या कहा जाए और क्या नहीं? आखिर उन्होंने मौन रहना ही श्रेयस्कर समझा।

घर वालों ने उनके मौन का अर्थ लगाया कि अवश्य ही आज उन्होंने जुआ खेला है और अंगूठी हार आए है। अंगूठी बीस हजार रुपये की थी, अतः पुत्र और मुनीम चिंतित हो गए।

एकांत अवसर मिलते ही पत्नी ने भी पनराजजी से वही बात पूछी। विवशता वश वहां भी उन्हें मौन रहना पड़ा। जुआ खेलने का सन्देह तब विश्वास में परिणत हो गया।

जयाचार्य उस समय जयपुर में ही विराजमान थे। पत्नी और पुत्र ने सारी स्थिति उनके सम्मुख रखी। पनराजजी आए तब जयाचार्य ने अंगूठी के विषय में पूछा। उन्होंने कहा–गुरुदेव! अंगूठी के विषय में मैं तो अभी कुछ भी बतलाने की स्थिति में नहीं हूं, परंतु आपको निश्चित विश्वास दिला सकता हूं कि जुए के प्रत्याख्यान का मैंने किञ्चित् भी भंग नहीं किया है।

जयाचार्य ने उनके कथन को व्यर्थ समझा और कठोर उपालम्भ देते हुए फरमाया–मैंने तुम्हारा विश्वास करके ही प्रत्याख्यान करवाया था, परन्तु तुम मेरे विश्वास के अनुरूप सिद्ध नहीं हो सके।

पनराजजी नम्रतापूर्वक उपालम्भ को सहन करते रहे। वे अन्त तक 'तहत्' के सिवाय कुछ नहीं बोले।

कई वर्षों पश्चात् अंगूठी ले जाने वाला उनके पास आया और अंगूठी देते हुए बोला–आर्थिक विवशता से घिरकर मैंने तुम्हारी अंगूठी ली थी। उस समय मेरे पास भूनी भांग भी नहीं थी। इसलिए मुझे ऐसा करना पड़ा। अंगूठी को गिरवी रखकर मैंने अपना काम निकाला। अब मैंने अच्छे पैसे कमा लिए हैं, अतः इसे छुड़ा लाया हूँ। तुम्हारी अंगूठी ने मेरी लाज रख ली। तुमने भी मेरी वह बात किसी को न कहकर सच्ची मित्रता का परिचय दिया है। मुझे तो यह विश्वास भी नहीं था कि बलात् दिलाई गई सौगंध का तुम इस प्रकार से पालन करोगे।

परिवार वालों को इतने अर्से के पश्चात् यह पता चला कि वह अंगूठी जुए में हारी नहीं गई थी, किंतु एक मित्र ने सौगंध दिलाकर अंगुली में से निकाल ली थी, पनराजजी द्वारा एतद्-विषयक मौन पर तब सभी आश्चर्यचकित हुए। जयाचार्य तक जब ये सारे समाचार पहुंचे तो वे भी अपने श्रावक की संकल्प-दृढ़ता तथा गंभीरता से बहुत प्रभावित एवं प्रसन्न हुए।

4. हिंसा का व्यापार नहीं

राजगढ़ निवासी पन्नालालजी सरावगी एक सुदृढ़ जैन श्रावक थे, अतः हिंसात्मक कार्यों से घृणा होना सहज बात थी। लाभदायी व्यापार-क्षेत्र में भी हिंसा की वर्जना जैनाचार का एक प्रमुख अंग है, अतः वह वृत्ति उनके संस्कारों में रमी हुई थी। एक बार स्मिथ स्टेन स्ट्रीट नामक कंपनी के आधे से अधिक शेयर उन्होंने लिए। वह कम्पनी औषधि, तेल, पाउडर आदि अनेक वस्तुओं का निर्माण करती थी। कंपनी का भार संभालने के पश्चात् जब उन्होंने वहां की समग्र व्यवस्था का निरीक्षण-परीक्षण किया तो पता चला कि वहां अनेक ऐसी वस्तुएं भी बनती हैं जो जीव हिंसा जन्य होती है। कुछ पदार्थों को सड़ाकर कृमि पैदा किए जाते हैं और फिर उनका सार खींचा जाता है। यह सब ज्ञात होते ही उनका मन घृणा से भर गया। फिर एक क्षण के लिए भी उस कम्पनी का स्वामित्व उन्होंने पसन्द नहीं किया। वे तत्काल कम्पनी के मूल स्वामी से मिले और बोले–'हम लोग इस कम्पनी के सारे शेयर फिर से आपको बेच देना चाहते हैं।'

मूल स्वामी ने अपनी विवशता बताते हुए कहा– 'सभी शेयर खरीद सकूं इतने रुपये मेरे पास नहीं है। कहीं अन्यत्र से इतनी रकम तत्काल एकत्रित कर सकूं, ऐसी भी कोई संभावना नहीं है।'

पन्नालालजी ने कहा–'कम्पनी का भार आप संभाल लीजिए और अपनी रकम की व्यवस्था कर सकें तब तक हमारी रकम को ब्याज पर दी हुई मान लीजिए।' सारी बात निश्चित होते ही उन्होंने कम्पनी उन्हें सौंप दी। जितने दिन पन्नालालजी ने कंपनी को संभाला था उतने दिनों में लगभग पांच लाख का लाभ उन्हें होता था, परन्तु वह भी उन्होंने यह कहकर छोड़ दिया कि हिंसाजन्य कार्य से प्राप्त इस धन का एक पैसा भी हम अपने घर में आने देना नहीं चाहते।

5. निमोनिया हो जाएगा पर शराब स्वीकार नहीं

पन्नालालजी सरावगी एक बार लंदन में अपने मित्र के साथ सिनेमा देखने गए। वापस लौटे उस समय तक ठंड बहुत गहरी हो गई थी। उन दिनों वहां बर्फ पड़ रही थी। सड़क पर भी काफी बर्फ जम चुकी थी। उस स्थिति में सिनेमा घर से वे जिस घर में ठहरे थे, वहाँ आए। उनके मित्र ने ब्रांडी

मंगाई और उन्हें पीने का निमंत्रण दिया। पन्नालालजी ने मित्र के उस निमंत्रण को अस्वीकार करते हुए कहा–'हम जैन लोग शराब को एक निषिद्ध पदार्थ मानते हैं।'

मित्र ने उन्हें समझाते हुए कहा–'ये सारे परहेज भारत में ही चल सकते हैं। यहाँ विदेश में यह सब कुछ भी नहीं चल सकता। इतनी ठंड में भी यदि तुम ब्रांडी नहीं लोगे तो तुम्हें निमोनिया हो जाएगा।'

मित्र के उपदेश और आग्रह से पन्नालालजी किंचित् भी विचलित नहीं हुए। वे बोले ठंड का प्रतिकार तो चाय पीकर भी किया जा सकता है। इतने पर भी यदि निमोनिया होता है तो होता रहे। मैं अपने आचार-व्यवहार को छोड़ने वाला नहीं हूँ। उन्होंने केवल चाय ही ग्रहण की।

6. स्वीकार और इन्कार

रूपचन्दजी सेठिया सुजानगढ़ के सुप्रद्धि श्रावक थे। वे अपने हर व्यवहार में सत्यता का पालन किया करते थे। किसी भी विषय में उनका स्वीकार अथवा इन्कार व्यवहार मात्र न होकर वास्तविक होता था। वे एक धनिक व्यक्ति थे। आवश्यकता होने पर अन्य व्यक्ति उनके यहां से विभिन्न वस्तुएं मांगकर ले जाया करते थे। बहली, घोड़ी, बर्तन, आभूषण आदि जिस वस्तु की स्वीकृति वे दे देते फिर चाहे उन्हें स्वयं उसकी आवश्यकता क्यों न हो जाए, वे उसे रोकते नहीं। अपनी पूर्ति वे वस्तु वापस आने पर करते या फिर अन्य किसी से मांगकर करते।

जिस वस्तु को वे देना नहीं चाहते, उसके लिए इन्कार करने का कोई बहाना नहीं खोजते, किन्तु सीधा इन्कार ही कर देते। मांगने वाला व्यक्ति चाहे कोई साधारण गृहस्थ होता अथवा उच्च राज्याधिकारी, वे किसी का भय नहीं खाते।

एक बार सुजानगढ़ में एक नए नाजम की नियुक्ति हुई। वे वहां पहले-पहल ही आए थे। लोगों से उनको पता लगा कि कोई आवश्यकता की वस्तु हो तो सेठिया-परिवार से मंगाई जा सकती है। उन्होंने अपना आदमी वहां भेजा और कुछ वस्तुएं मंगाई। रूपचंदजी ने अन्य वस्तुएं देते हुए एक वस्तु के लिए कहा कि यह वस्तु मेरे पास है तो सही पर देने की इच्छा नहीं है। नौकर ने जब यह बात नाजम साहब को बतलाई तो वे उस विचित्र उत्तर से बड़े विस्मित हुए। उन्होंने लोगों से पूछा–'यह ऐसा कैसा आदमी है?' लोगों ने उनको बतलाया कि वे कभी बहाना नहीं करते। जो वस्तु किसी कारण से वे नहीं देना चाहते तो स्पष्ट ही इन्कार कर देते हैं।

नाजम साहब को उनकी उस विचित्र प्रकृति पर क्रोध तो अवश्य आया, परन्तु लोगों के मुख से उनकी सत्यता का परिचय पाकर वह शान्त हो गया।

7. नैतिक बल जीवन पूँजी

सरदारशहर निवासी सेठ समेरमलजी दूगड़ के पुत्र जबरमलजी अपनी प्राचीन हवेली में कुछ परिवर्तन करवा रहे थे। जब उन्होंने भूमि-गृह के मेहराव को तुड़वाया तो उसमें से उन्हें सोने की 26 छड़ें एवं चांदी की 21 छड़े (तोल में 430 और 125 किलोग्राम प्राप्त हुई।)

उसी वर्ष केन्द्रीय सरकार के द्वारा स्वर्ण-नियन्त्रण अध्यादेश लागू किया गया था। उसमें स्वर्ण को प्राप्त करने तथा अधिकार में रखने पर कई प्रकार के प्रतिबंध थे। स्वर्ण प्राप्ति के पश्चात् जबरमलजी

ने अनेक विशिष्ट व्यक्तियों से कानून तथा स्वयं की स्थिति के विषय में परामर्श लिया तो अधिकांश ने यही कहा कि चुप रह जाना ही अच्छा है। सरकार को पता लगते ही धन तो सारा चला ही जाएगा, आप लोगों को भी कानून की पेचीदगियों में उलझा लिया जाएगा। सेठ समेरमलजी का विचार उन सबसे भिन्न था। उनका कथन था कि हमें अपनी पारिवारिक परम्परा का पालन करते हुए सरकार के सम्मुख सत्य स्थिति रख देनी चाहिए। उसमें यदि कुछ कठिनाइयां भी सहनी पड़े तो उसके लिए तैयार रहना चाहिए। आखिर उनके परामर्श के अनुसार ही जबरमलजी ने रतनगढ़ स्थित केन्द्रीय उत्पादन कर निरीक्षक, बीकानेर स्थित केन्द्रीय उत्पादन अधीक्षक और दिल्ली स्थित स्वर्ण नियन्त्रण प्रशासक को पूरे विवरण के साथ स्वर्ण प्राप्ति की सारी स्थिति सूचित कर दी। बीकानेर से केन्द्रीय उत्पादनकर अधीक्षक आए। सम्पूर्ण सोना व चांदी कानून के अनुसार अधिग्रहीत कर लिया गया। सरकार द्वारा अपने विभिन्न स्रोतों के माध्यम से तद्विषयक जांच की गई। छड़ों पर अंकित चिह्नों की फोटों प्रतियां विशेषज्ञों के पास भेजी गई। कलकत्ता स्थित अपराध शाखा की प्रयोगशाला में भी सोने की पुरातनता और उद्गम का निश्चय करने हेतु अनेक परीक्षण किए गए। हांगकांग स्थित भारतीय उच्चायोग के माध्यम से भी जानकारी प्राप्त की गई। निष्कर्ष रूप में यह सिद्ध हुआ कि छड़ों पर अंकित चीनी चिह्नों की लेखन पद्धति सौ वर्षों से भी अधिक प्राचीन है। रिकॉर्ड में हवेली को भी सौ वर्ष प्राचीन लिखाया गया था। इस प्रकार लगभग 9 महीनों की जटिल और सूक्ष्म जांच के पश्चात् पाया गया कि उस विषय में कहीं भी किसी प्रकार के कानून का उल्लंघन नहीं किया गया। पूर्ण निर्दोषता के आधार पर सोने व चांदी की वे सारी छड़ें वापस सौंप दी गई। इस प्रकार उस स्वर्ण-परीक्षा में सेठ समेरमलजी और उनके पौत्र जबरमलजी के नैतिक-बल की भी परीक्षा हो गई।

8. आपका हमारा संबंध संघ से

वि. सं. 2038 में तेरापंथ धर्मसंघ से अलग हुए कुछ साधु धनमुनि, चन्दनमुनि आदि 'टोहाना' गए। उन्होंने ठहरने के लिए लालाजी का मकान मांगा। मकान उन्हें मिल गया। ऊपर की मंजिल में साधु ठहरे। नीचे लालाजी की पत्नी श्राविका भूरी देवी रहती थी। वे वहां सात दिन रहे। श्राविकाजी एक बार भी उनके पास नहीं गई। एक दिन धनमुनि स्वयं चलकर उनके पास गए और बोले–'माताजी! हम आपके मकान में सात दिन रहे और आप एक बार भी ऊपर नहीं आई। यह बात मेरी समझ में नहीं आ रही है कि आप हमारे पास आए बिना रहीं कैसे? आपको याद होगा, हम पहले यहां एक महीना रहे थे। उस समय आपको कितना तत्त्वज्ञान सिखाया और आपने हमारी कितनी भक्ति की थी।'

धनमुनि की बात सुन श्राविका भूरी देवी बोलीं–'महाराज! एक बात मेरी समझ में भी नहीं आ रही है कि आप जैसे संत संघ से अलग क्यों हो गए? मुझे आपका प्रवास और आपके पास सीखा हुआ तत्त्वज्ञान याद है, पर आप जानते हैं कि हम तो संघ के भक्त हैं। आपने संघ की मर्यादा तोड़ दी। अब हम आपके पास क्यों आएं? आप संघ की मर्यादा में चलो और फिर देखो कि हम आपके पास आते हैं या नहीं?' श्राविकाजी से सीधा उत्तर सुनकर मुनिजी मौन हो गए।

9. सन्त दर्शन

उदयपुर निवासी मोखजी खिमेसरा की मां श्रद्धाशील और विवेक-सम्पन्न श्राविका थी। वह साधु-साध्वियों की मां थी। बच्चों को धार्मिक संस्कार देने की दृष्टि से वह मनोवैज्ञानिक प्रयोग करती

थी। उनके पुत्र मोखजी माता के परम भक्त थे, पर साधु-साध्वियों के पास जाने में संकोच करते थे। एक बार उदयपुर में सन्तों का चातुर्मास था। मोखजी को उनकी मां ने अनेक बार दर्शन करने की प्रेरणा दी। पर वे टालते गए। चातुर्मास के पन्द्रह दिन शेष रहे। उस समय मां ने फिर कहा। इस पर मोखजी बोले– 'मां! मेरी जगह तुम ही जाया करो।' इस बात से मां के मन को आघात लगा। मां ने कहा–'तू जब तक सन्तों के दर्शन नहीं करेगा, मैं तुझसे बात नहीं करूंगी।' मोखजी ने इस बात को विनोद में लिया । उनका भ्रम तब टूटा जब दिनभर कई बार अपेक्षा होने पर भी मां नहीं बोली। मोखजी ने मां को मनाते हुए कहा–'मां! मैं अब दर्शन कर लूंगा, तुम बात करो।' पर मां नहीं बोली। सन्तों के पास नहीं जाने का और कोई कारण नहीं था, उनके अपने मन का संकोच था। उस दिन उन्होंने संकोच छोड़कर सन्तों के दर्शन किए, उनसे बातचीत की और प्रतिदिन दर्शन करने का संकल्प स्वीकार किया। मां का अभिग्रह पूरा हो गया।

10. क्रोध विजय

नोखा निवासी धूड़चंदजी बैद के लिए यह प्रसिद्ध था कि वे किसी भी परिस्थिति में क्रुद्ध नहीं होते। एक व्यक्ति ने उनकी परीक्षा लेने का निश्चय किया। उन दिनों वे बीड़ियों का काम किया करते थे। वह व्यक्ति आया और उसने सभी प्रकार की बीड़ियों के भाव पूछे। धूड़चंदजी ने बता दिए तब वह यह कहकर चला गया कि फिर कभी आकर खरीदूंगा। थोड़ी देर बाद वापस आकर बोला–'अच्छा तो आप चार हजार बीड़ियों को एक बंडल में बांध दें।' धूड़चंदजी ने वैसा कर दिया और उसका मूल्य 48 रुपये बतलाया। उस व्यक्ति ने कहा–'इतने रुपये तो इस समय मेरे पास नहीं है। आप बाकी रख लें।' धूड़चंदजी ने कहा–'मैं कभी किसी की बाकी नहीं रखता।' तब उसने काफी कड़ा रुख अपनाते हुए कहा–'बाजार के सभी व्यापारी बाकी रखते हैं। क्या आप किसी नई दुनिया से आए है? क्या आपने मुझे धोखेबाज समझा है, जो आपके रुपये मार लूंगा?' उसने और भी न जाने कितनी ऊंची-नीची बातें कहीं, परंतु धूड़चंदजी चुपचाप सुनते रहे। अंत में उन्होंने इतना ही कहा कि आप बुरा न मानें, बाकी न रखने का मेरा सदैव का नियम है। ग्राहक ने तब कहा–'अच्छा छोड़िए इस बात को। आप मध्यम मूल्य वाली बीड़ियों का बंडल बांध दीजिए।' धूड़चंदजी ने वह बांध दिया तब कहने लगा–'मुझे तो बाजार से अन्य सामान भी खरीदना है, सभी रुपये बीड़ी खरीदने में कैसे लगा सकता हूं? आप ऐसा करिये कि सबसे कम मूल्य वाली बीड़ियां बांध दीजिये।' इस प्रकार उसने चार-पांच बार बंडल बंधवाए और खुलवाए, परंतु धूड़चंदजी के मुख पर क्रोध की एक रेखा तक नहीं उभरी। ग्राहक ने तब क्षमा मांगते हुए कहा–'धूड़जी! मैंने आपकी जैसी प्रशंसा सुनी थी आप उससे कहीं बढ़कर ही शांत निकले। मैं आज आपकी परीक्षा करने ही आया था, परंतु आपको क्रुद्ध नहीं कर सका।' उस व्यक्ति ने पूरे दाम चुका कर माल ले लिया।

11. देव, गुरु, धर्म पर अचल श्रद्धा

विष्णुदयालजी गोयल हांसी के अग्रवाल परिवार से सम्बन्धित थे। संस्कारों से वे आर्यसमाजी थे। तेरापन्थी साधु-साध्वियों के सम्पर्क से उन्होंने आचार्य भिक्षु के तत्त्वदर्शन को समझा। उनके

संस्कार रूढ़ नहीं थे। वे पक्के बनिए थे। लाभ के व्यापार में स्वयं को समर्पित करते हुए उन्होंने अनेक परीक्षणों के पश्चात् तेरापंथ की गुरुधारणा स्वीकार की।

गोयलजी की बुद्धि प्रखर थी। स्मृति तेज थी। उन्हें अनेक दृष्टान्त और कहानियां याद थीं। कोई भी व्यक्ति उनके सम्पर्क में आता, वे घुमा-फिराकर उसे धर्म और तत्त्व की बातें बताया करते थे। उनका बात करने का ढंग ही ऐसा था कि सामने वाला व्यक्ति प्रभावित हो जाता। गृहस्थों की बात ही क्या, वे समय-समय पर साधु-साध्वियों को भी अत्यन्त श्रद्धा के साथ भावभरे शब्दों में शिक्षा दिया करते थे। शास्त्रों में श्रावक को साधु का माता-पिता कहा गया है। गोयलजी इस गरिमापूर्ण दायित्व को जागरूकता से निभाते थे।

एक समय गोयलजी की आर्थिक स्थिति बहुत कमजोर थी। समय बदला। उनके भाग्य ने साथ दिया। उनका पुरुषार्थ फला। वे करोड़पति व्यवसायी बन गए। पर उन्हें इस सफलता का कभी गर्व नहीं हुआ। उन्होंने अपने परिवार को शिक्षा देते हुए कहा–'तुम और कुछ याद रखो या नहीं, धार्मिक संस्कारों को मत भूलना। देव, गुरु और धर्म को मत भूलना। यह ऐसी संपत्ति है, जो कभी क्षीण नहीं होगी। तुम कहीं भी जाओ, पर जहां गुरु की निन्दा हो, वहां मत जाना। क्योंकि एक भी गलत बात व्यक्ति को प्रभावित कर ले, मन संदिग्ध हो जाए तो जीवन की गति विपरीत दिशा में हो सकती है।' गोयलजी के परिवार ने उनकी बहुमूल्य सीख को सहेजकर रखा।

पाठ-14 अर्हत्-वंदना

वंदना सूत्र

1.	**णमो अरहंताणं**	अरहन्तों को मेरा नमस्कार हो
	णमो सिद्धाणं	सिद्धों को मेरा नमस्कार हो
	णमो आयरियाणं	धर्माचार्यों को मेरा नमस्कार हो
	णमो उवज्झायाणं	उपाध्यायों को मेरा नमस्कार हो
	णमो लोए सव्वसाहूणं	लोक के सब साधुओं को मेरा नमस्कार हो
	एसो पंच णमोक्कारो	यह पंच नमस्कार महामंत्र
	सव्व पावपणासणो	सब पापों का विनाशक है,
	मंगलाणं च सव्वेसिं	और सब मंगलों में
	पढमं हवइ मंगलं	पहला मंगल है।
2.	**जे य बुद्धा अइक्कंता**	जितने भी बुद्ध (तीर्थंकर) हुए हैं,
	जे य बुद्धा अणागया	और जितने भी होंगे, उन सबका
	संती तेसिं पइट्ठाणं	प्रतिष्ठान (आधार) शान्ति है,
	भूयाणं जगई जहा	जैसे प्राणियों का आधार है–पृथ्वी।

मोक्ष-सूत्र

3.	**से सुयं च मे, अज्झत्थियं च मे**	मैंने सुना है, अनुभव किया है–
	बंध-पमोक्खो तुज्झ अज्झत्थेव	बंध और मोक्ष तेरे अन्तःकरण में ही है
4.	**पुरिसा! तुममेव तुमं**	पुरुष ! तू ही तेरा मित्र है, फिर बाहर
	मित्तं, किं बहिया मित्त मिच्छसि।	मित्र को क्यों खोजता है ?
5.	**पुरिसा! अत्ताणमेव अभिणिगिज्झ,**	पुरुष! अपने आपका निग्रह कर,
	एवं दुक्खा पमोक्खसि	स्वयं दुःख से मुक्त हो जाएगा।

अहिंसा सूत्र

6. **पुरिसा! तुमंसि नाम सच्चेव,**	पुरुष! वह तू ही है,
जं 'हंतव्वं' ति मन्नसि।	जिसका तू हनन करना चाहता है।
7. **सव्वे पाणा ण हंतव्वा।**	किसी प्राणी का हनन मत करो -
एस धम्मे धुवे, णिइए सासए	यह धर्म ध्रुव, नित्य और शाश्वत है।

सत्य-सूत्र

8. **पुरिसा! सच्चमेव समभिजाणाहि**	पुरुष! तू सत्य को पहचान।
9. **सच्चं भयवं**	सत्य ही भगवान है।
10. **सच्चं लोयम्मि सारभूयं**	सत्य लोक में सारभूत है।
11. **इणमेव णिग्गंथं पावयणं सच्चं**	यही निर्ग्रन्थ प्रवचन (अर्हत्-प्रवचन) सत्य है।

अप्रमाद-सूत्र

12. **उट्ठिए णो पमायए**	जब जाग उठे हो, फिर प्रमाद मत करो।
13. **सव्वतो पमत्तस्स भयं**	प्रमत्त व्यक्ति को सब ओर से भय होता है।
सव्वतो अपमत्तस्स णत्थि भयं	अप्रमत्त को कहीं भी भय नहीं होता।

साम्य-सूत्र

14. **समया धम्ममुदाहरे मुणी।**	भगवान ने समता में धर्म कहा है।
15. **लाभालाभे सुहे दुक्खे,**	हम लाभ-अलाभ, सुख-दुख
जीविए मरणे तहा	जीवन-मरण,
समो निंदापसंसासु,	निंदा-प्रशंसा
तहा माणावमाणओ	मान-अपमान में सम रहें
16. **अणिस्सिओ इहं लोए,**	हम लौकिक सुखों में अप्रतिबद्ध हों,
परलोए अणिस्सिओ	पारलौकिक सुखों में अप्रतिबद्ध हों
वासी चंदणकप्पो य,	वसूले से काटने या चंदन
असणे अणसणे तहा	लगाने पर, तथा आहार मिलने या न मिलने पर सम रहें।

आत्म-विजय-सूत्र

17. **अप्पा कत्ता विकत्ता य,**	आत्मा ही सुख-दुख की करने
दुहाण य सुहाण य।	वाली और उनका क्षय करनेवाली है।

अप्पा मित्तममित्तं च,	सत्प्रवृत्ति में लगी हुई आत्मा मित्र है
दुप्पट्ठिय सुप्पट्ठिओ॥	और दुष्प्रवृत्ति में लगी आत्मा शत्रु है।
18. **अप्पा णई वेयरणी,**	आत्मा ही वैतरणी नदी है,
अप्पा मे कूड़सामली।	आत्मा ही कूट शाल्मली वृक्ष है।
अप्पा कामदुहा धेणू,	आत्मा ही कामधेनु है और
अप्पा मे नंदणं वणं॥	आत्मा ही नन्दनवन है।
19. **जो सहस्सं सहस्साणं**	दुर्जेय संग्राम में दस लाख
संगामे दुज्जए जिणे।	योद्धाओं को जीतने वाले की अपेक्षा
एगं जिणेज्ज अप्पाणं	जो अपने आपको जीत लेता है
एस से परमो जओ॥	वह परम विजयी होता है।

मैत्री-सूत्र

20. **खामेमि सव्वजीवे,**	मैं सब जीवों को क्षमा करता हूँ
सव्वे जीवा खमंतु मे।	वे सब जीव मुझे क्षमा करें।
मित्ती मे सव्वभूएसु,	मेरी सबसे मैत्री हो,
वेरं मज्झ न केणई॥	किसी से भी मेरा वैर न रहे।

मंगल-सूत्र

21. **अरहंता मंगलं**	अरहंत मंगल हैं,
सिद्धा मंगलं,	सिद्ध मंगल हैं,
साहू मंगलं,	साधु मंगल हैं,
केवलि-पण्णत्तो धम्मो मंगलं।	केवली-भाषित धर्म मंगल है।
अरहंता लोगुत्तमा,	अरहंत लोक में उत्तम हैं,
सिद्धा लोगुत्तमा,	सिद्ध लोक में उत्तम हैं,
साहू लोगुत्तमा,	साधु लोक में उत्तम हैं,
केवलि पण्णत्तो धम्मो लोगुत्तमो।	केवली-भाषित धर्म लोक में उत्तम है।
अरहंते शरणं पवज्जामि	मैं अरहंतों की शरण में जाता हूं।
सिद्धे शरणं पवज्जामि,	मैं सिद्धों की शरण में जाता हूं,
साहू शरणं पवज्जामि,	मैं साधुओं की शरण में जाता हूं,
केवलि-पण्णत्तं धम्मं	मैं केवली-भाषित धर्म की शरण में
शरणं पवज्जामि।	में जाता हूँ।

वन्दना

भाव-भीनी वन्दना, भगवान-चरणों में चढ़ाएं।
शुद्ध ज्योतिर्मय निरामय, रूप अपने आप पाएं॥

ज्ञान से निज को निहारें, दृष्टि से निज को निखारें।
आचरण की उर्वरा में, लक्ष्य-तरुवर लहलहाएं॥1॥

सत्य में आस्था अचल हो, चित्त संशय से न चल हो।
सिद्ध कर आत्मानुशासन, विजय का संगान गाएं॥2॥

बिन्दु भी हम सिन्धु भी हैं, भक्त भी भगवान भी हैं।
छिन्न कर सब ग्रंथियों को, सुप्त-चेतन को जगाएं॥3॥

धर्म है समता हमारा, कर्म समतामय हमारा।
साम्ययोगी बन हृदय में, स्रोत समता का बहाएं॥4॥

पुस्तक के सभी पाठों से संबंधित प्रश्नों के अभ्यास के लिए स्केन करें–

Sambodhi E-Library